बाहर-भीतर

बाहर - भीतर

संपादक

सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता

श्रीदुलारेलाल

(सुधा-संपादक)

हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास और कहानियाँ

पुस्तक	मूल्य
रंगभूमि (दो भाग)	७), ८॥)
अलका	१॥), २॥)
कुंडली-चक्र	२), २॥)
प्रेम की भेंट	१), २)
कोतवाल की करामात	१), २)
संगम	२॥), ३)
बहता हुआ फूल	३), ३॥)
हृदय की परख	१), २)
हृदय की प्यास	२॥), ३)
पतन	२), २॥)
जब सूर्योदय होगा	१), २)
कुबेर	१॥), २)
संसार-रहस्य	१॥), २॥)
विजया	[illegible], ३)
जागरण	३॥), ४॥)
अबला	१), २)
मा	४), ५)
कर्म-मार्ग	२॥), ३)
केन	१), २)
वीर-मणि	॥), १॥)
गिरिबाला	१), २)
निःसहाय हिंदू	॥), १॥)
आत्महत्या	१), २)
चलती पिटारी	२)
ससुराल	१), २)
कर्म-फल	२), ३)
विचित्र योगी	१), २)
पवित्र पापी	३॥), ४)
गोरी	१), २)
ला-मज़हब	१), १॥)
भाग्य	१), २)
अप्सरा	२), २॥)
अछूत	१), २)
ख़वास का ब्याह	१), २)
क़ैदी	१), १॥)
जूनिया	१॥), २॥)
प्रत्यागत	१॥), २)
प्रश्न	१॥), २॥)
मदारी	२), २॥)
लगन	१), २)
विकास (दो भाग)	५), ६॥)
विजय (दो भाग)	५॥), ७)
अमृत	१), १॥)
अश्रुपात	१॥), २)
संध्या-प्रदीप	१), २)
कंट्रोल	२)

हिंदुस्थान-भर की हिंदी-पुस्तकें मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार, ३६, लाटूश रोड, लखनऊ

गंगा-पुस्तकमाला का १६६वाँ पुष्प

बाहर-भीतर

[कहानी-संग्रह]

लेखक
साहित्यरत्न श्रीनरोत्तमलाल गुप्त 'नरेंद्र'
एम्० ए०, एल्-एल्० बी०
['जीवन-रेखाएँ' के रचयिता]

—— :❀: ——

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द २)] सं० २००३ वि० [सादी १)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. प्रयाग-ग्रंथागार, १, जॉन्सटनगंज, प्रयाग
३. काशी-ग्रंथागार, मच्छोदरी-पार्क, काशी
४. लखनऊ-ग्रंथागार, लखनऊ
५. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
६. साहित्य-रत्न-भंडार, सिविल लाइंस, आगरा
७. हिंदी-भवन, अस्पताल-रोड, लाहौर
८. एन्० एम्० भटनागर ऐंड ब्रादर्स, उदयपुर
९. दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार-सभा, त्यागरायनगर, मदरास

नोट —हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके यहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

स्मृति-चिह्न

प्रिय नरेंद्रजी हिंदी के श्रेष्ठ लेखक हैं। उनकी शैली अपनी है। उनकी पहली पुस्तक 'जीवन-रेखाएँ' का हिंदी-संसार ने अच्छा स्वागत किया। इसी से उत्साहित होकर हम उनकी यह दूसरी पुस्तक निकाल रहे हैं। आशा है, यह भी भली भाँति आदृत होगी।

और भी कई पुस्तकें हम उनसे निकलवा रहे हैं।

कवि-कुटीर, लखनऊ
होली, २००२ — दुलारेलाल

सूची

एक

बाहर-भीतर

रमेश बाहर खाट बिछाकर लेटा ही था कि सहसा कुत्ते का करुण चीत्कार उसके कानों में पड़ा। यह देखकर उसका हृदय क्षुब्ध हो उठा। उसके नेत्र करुणा और सहानुभूति से प्लावित हो उठे। कुत्ता बुरी तरह रोता हुआ भागा ही जा रहा था कि दरवाज़े पर रमेश के पिता खड़े थे। कुत्ते को घर से इस प्रकार भागता देखकर, ज़ोर से कसकर एक लात और जमा दी। अब क्या था, बेचारा दुःख से अति विकल हो गया। वह अब इस प्रहार को न सह सका। लँगड़ाता-सा रमेश की खाट के पास आ गिरा, और लगा रोने। रमेश के नेत्रों से इस समय समवेदना का स्रोत बह रहा था। कुत्ता पहले तो उसकी ओर देखकर झिझका—वह वहाँ से शीघ्र भाग जाना चाहता था। उसे डर था, कहीं यहाँ भी न पिटें, किंतु सहसा रमेश के नेत्रों की ओर देखकर कुछ रुकने का साहस किया। यहाँ अब वह अपने पीड़ित पैर को पृथ्वी पर रखने का प्रयत्न करने लगा, किंतु उसे रख न सका। उसमें गहरी चोट लगी थी। बेचारा अपना दुःख और अस-

मर्थता देखकर रोने लगा। करे भी क्या ? बहुत प्रयत्न करने पर भी वह अपना पैर ज़मीन पर न रख सका। रखता और असह्य दुःख के कारण एकदम उठा लेता। अंत में दुःख से पीड़ित होकर रमेश की खाट के नीचे आकर लेट गया।

रमेश किं-कर्तव्य-विमूढ़-सा यह सब देखता रहा। उसे कुत्ते की यह दारुण पीड़ा असह्य हो उठी। वह एक आवेश में घर गया। दरवाज़े पर ही माताजी क्रोध में बड़बड़ा रही थीं—"कुत्ते घर में ऐसे नाहर कर लिए हैं, मरते भी तो नहीं। अभी-अभी परात माँजकर रक्खी थी कि कमबख़्त उसमें मुँह डाल गया! भला, इनसे कैसे जीतें।"

रमेश को आते देखकर सहसा बोलीं—"लल्लू! तुम बाहर ही बैठे थे, क्या तुमसे मारा नहीं जाता था? अंदर आकर परात में मुँह डाल गया!"

रमेश यह सुनकर और भी तमतमा उठा। बोला—"माता-जी! उसे तुम्हारे इस झूठे और सच्चे का बोध थोड़े ही था। उसने तुम्हारा अपराध जान-बूझकर थोड़े ही किया है। इस पर भी आपने उसकी टाँग तोड़ दी!"

"तोड़ न दूँ, तो क्या उसे पूजूँ? चले उसकी हिमायत करने। क्या तुम्हारे स्कूल में यही सिखाया जाता है कि अपने मा-बाप से जाकर वाद-विवाद करो।" माधवो ने एक दुःख के-से भाव से कहा।

"माताजी, इसमें सीखने और सिखाने की क्या बात,

साधारण-सी बात है कि उस ग़रीब के कोई खेती तो होती ही नहीं, न हमारी-तुम्हारी तरह दूकान ही। बेचारा भूखा और मूक प्राणी है। भूख से प्रेरित हो परात में मुँह डाल दिया। मनुष्य को जब भूख लगती है, तो वह क्या नहीं करता ? वह बेचारा तो अपनी पीड़ा किसी से कह भी नहीं सकता। आप ही बताइए, इस पर आपने उसे मारा भी, तो रोकर चल दिया। अपनी पीड़ा कहने के लिये उसके पास ज़बान भी नहीं।"

रमेश कह ही रहा था कि माधवी झुँझलाकर बोलीं—"रमेश, तुम तो बेकार मग़ज़-पच्ची करते हो। तुम्हें यह नहीं दिखाई देता कि वह क्या यहाँ कमाकर रख गया था, जो हम उसे खाने को दें। और, एक-दो हों, तो ऐसा भी करें। इस कोरी दया को ओढ़ें या बिछावें ? कमबख्त कहीं का ! स्वच्छ की हुई परात बिगाड़ गया।"

"यदि कमाने की ही शक्ति होती, तो क्या तुम उसे ऐसे ही मार सकती थीं ?"

रमेश यह कह ही रहा था कि कुत्ता लँगड़ाता बाहर से आ गया। मुन्नी हाथ में रोटी लिए हुए खा रही थी। झट उसके हाथ से रोटी झपट ली। नन्ही-सी बच्ची अपनी रोटी इस तरह छिन जाने पर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। यह देख-कर रमेश की मा की चढ़ बैनी। वह एकदम बौखला उठीं—"क्या दिखाई देता है तुझे, लड़की कैसी रो रही है। हाय !

अभी पिटकर गया है, परंतु एक न लगी। दे तो मरे के एक डंडा।" यह कहती हुई माधवी एक विजय के-से भाव से फूली कुत्ते को मारने दौड़ीं, किंतु रमेश ने उन्हें रोक दिया।

"छोड़ दो, बच्चों से रोटी छीन ले जाना मुझसे नहीं देखा जाता।" यह कहकर माधवी के होठ क्रोधाग्नि से जल उठे। वात्सल्य प्रेम में कुत्ते की असहाय भूख का किंचित्-मात्र भी अस्तित्व न था। मुन्नी अभी रो रही थी। वह अनेकों प्रकार से भी शांत न होती थी। उस निर्दोष बालिका का रोना देखकर रमेश के हृदय में भी एक गुदगुदी-सी पैदा हुई। उसे भी कुत्ते की इस हरकत पर कुछ क्रोध-सा आने लगा। मुन्नी के इस समय रोने के सम्मुख रमेश की बी० ए० में पढ़ी फ़िलॉसफ़ी कुछ काल के लिये लुप्त होने लगी—हाय! नन्ही-सी बच्ची को कितना कष्ट हुआ होगा!

किंतु सहसा ही उसे कुत्ते का पिछला करुणा-जनक दृश्य स्मरण हो आया। अब मुन्नी और कुत्ता, दोनो का ही रोना उसके सम्मुख था, किंतु हृदय का खिंचाव पिछले रोने की ओर अधिक था। वह बड़ी तन्मयता के साथ इस मानसिक संघर्ष को सुलझाने में लगा रहा। अंत में विजय करुणा की ही हुई। वह सोचने लगा—

"मुन्नी रोती है केवल इसलिये कि वह उसके हाथ से रोटी छीन ले गया, किंतु मुन्नी को यह क्या पता कि उसी की भाँति उससे भी भूख लगी है। संभव है, कहीं उससे अधिक हो।

"और फिर, मुन्नी के माँगने पर तो माताजी उसे और दे देंगी, किंतु उसे कौन देगा? और, कोई दे भी, तो वह माँग भी कैसे सकता है!"

अब उसका सच्चा विवेक पुनः हरा हो गया। वह कुत्ते के इस कार्य के बाह्य रूप को भूल गया। वह उसके अंतर में जाने का प्रयत्न करने लगा। हृदय की पूर्ण सहानुभूति से इस पर न्याय-पूर्वक विचारने लगा। कुछ क्षण शांति-पूर्वक सोचने के बाद वह बड़े करुण स्वर में मा से कहने लगा—"मा, आपकी उस मार से उस बेचारे की भूख तो मिटी न थी, आख़िर उसे मिटाए कहाँ से? तुम कितना ही मारो—एक बार, दो बार, चार बार—उसे अपनी क्षुधा तो किसी-न-किसी प्रकार शांत करनी ही पड़ेगी। उसके वाणी नहीं, जो माँग ले। रोटी का टुकड़ा देखकर छीन लिया। मा, मनुष्य तो बुद्धि और जिह्वा होते हुए भी दूसरे मनुष्यों से अनधिकार उसकी वस्तु छीन लेता है। वह तो बेचारा भूखा और मूक प्राणी है। यदि उसने रोटी छीन ली, तो ऐसा कौन-सा भारी पाप किया?"

रमेश का यह कहना ही था कि माधवी का मुँह क्रोध से तमतमा उठा, और "ले, अब इन्हें घर में रखकर खाना खिला।" यह कहती हुई कमरे में जाकर रोने लगीं।

मनुष्य जब देखता है कि उसका अंतर उसके बाह्य पर विजय पाने को है, तो उसे दबाने के लिये नेत्रों के आँसू

ही उसके पास प्रबल हथियार हैं। माधवी रमेश की बात हृदय से मानती हुई भी न मान सकीं। वह न समझ सकीं कि वह कुत्ते की असहाय भूख थी। मुन्नी के हाथ से रोटी छीन ले जाना और मुन्नी का क्रंदन उनके सामने था। वह मुन्नी की ओर देखकर कुत्ते को मार डालना चाहती थीं—वह कुत्ते पर क्रोध से बावली हो रही थीं। मुन्नी के हाथ से रोटी छीन ले जाने का उसका क्या हक़ था? इस प्रश्न के साथ निर्बोध बालिका का रोना कुत्ते के कार्य के बाह्य रूप को भूलने से रोकते थे। इनके सम्मुख वह इस बाहर और भीतर के अंतर को समझने में असमर्थ थीं।

उधर रमेश सोच रहा था—"अपनी भूख शांत करने का सबको अधिकार है। बेचारा अज्ञान कुत्ता तो था ही—दुनिया के इस अपने और पराए का उसे क्या बोध? उस भूखे कुत्ते के लिये तो संसार-भर में जितनी खाने की सामग्री थी, सब अपनी ही थी। अपनी क्षुधा शांत हो जाने के बाद तो वह उससे अधिक नहीं बाँधता। और फिर, जब तक वह जीवित है, तब तक जीव-रक्षा तो किसी-न-किसी प्रकार करे ही। अपनी इच्छा से स्वार्थी मनुष्य कितना उसे नित्य-प्रति खाने को देता है! वह तो अपनी भूख से भी ज्यादा यह समझता है कि पीछे के लिये कुछ संचित करके रख दूँ। अब अपनी भूख मिटाने को उसने रोटी का टुकड़ा खा लिया, तो क्या पाप किया? निर्बोध मुन्नी झूठे मोह के कारण

रोती है, माताजी झूठे प्रेम में उसे मारने दौड़ती हैं, सो क्यों ? संसार के पास इस बाह्य रूप को छोड़कर थोड़ा अंदर जाने का साहस नहीं। दुनिया दया, सहानुभूति की दुहाई देती है, किंतु उसे कार्य-रूप में लाने से डरती है।" यह सोचते-सोचते उसके होठों पर एक मंद मुस्कान झलक आई।

दो

आकर्षण

प्रतिदिन की भाँति आज भी सुरेश यमुना-किनारे बुज पर बैठा आत्मचिंतन में मग्न था। लहरें रह-रहकर उसके विचारों की भाँति बुलबुला रही थीं। यमुना की कलकल-ध्वनि में उसके हृदय के भाव बोल रहे थे। वह उसके मधुर संगीत में अपने को भूलने का-सा प्रयत्न कर रहा था। कभी यमुना में चलती छोटी-छोटी नौकाओं की ओर देखता, कभी बादलों की ओर, कभी कालिंदी के मंद प्रवाह पर नाचते विद्युत्-प्रकाश पर दृष्टि डालता, किंतु उसे शांति न मिलती थी। वह बरबस इन सबसे अपनी दृष्टि हटाकर क्षितिज के उस पार न-जाने क्या देखने का प्रयत्न करता। उसकी मूक दृष्टि उसकी अशांति की द्योतक थी। वह चाहता था आध्यात्मिक उन्नति और सच्ची शांति, किंतु उसे प्राप्त नहीं कर पाता था। उसका विश्वास था, जीवन में दैवी उल्लास संसार से विरक्ति रहने में ही है, और उससे परे सब माया है। अपने दार्शनिक भावों से प्रेरित वह अपनी आत्मा का स्वरूप पहचानने का प्रयत्न करता, किंतु एक हिलोर-सी, एक

अज्ञात हूक-सी उठती, जिसे वह बरबस भूलने का प्रयत्न करता, परंतु जीवन की दार्शनिकता के सामने भी उसे भूल न पाता था—हृदय को एकचित्त रखने का सब परिश्रम कुछ असफल-सा रहता। उसने दर्शन-शास्त्र पढ़ा था। वह जीवन को समझता था, और यह भी जानता था कि यह सौंदर्य क्षण-भंगुर है। किंतु फिर भी वह उसकी अवहेलना नहीं कर सकता था। उस शून्य में से कोई आ-आकर उसके कानों में कह जाता—"कुसुम"..। वह अपने पर झुँझला उठता, दर्शन-शास्त्र के गंभीर सिद्धांतों द्वारा अपने हृदय को एकाग्र रखने का प्रयत्न करता, वह अपनी आत्मा को शांति देना चाहता, किंतु यह आत्मा और नारी का संग्राम उसे स्थिर नहीं रहने देता था—उसका अंतर बाह्य पर विजय प्राप्त किया ही चाहता था। दार्शनिकता में उसे थोथापन प्रतीत होने लगा, शब्द उसे निर्जीव-से लगते, जो अपनी ओर खींचने में सर्वथा असमर्थ थे।

फिर भी, कुछ क्षण के लिये, उसका उद्विग्न मन शांत हुआ। वह नीले आकाश की ओर देखने लगा। वहाँ बादल के छोटे-छोटे टुकड़े, शीतल समीर के सहारे, आपस में इधर-उधर खेल रहे थे। वह उनमें कुछ भूला-सा सोचने लगा—"आखिर मानव उस सत्य को क्यों भूला रहना चाहता है, उसे इस असारता में क्यों इतना अपनत्व का भास होता है? यह उसकी भूल है। संसार के सब सुख-

दुःख, मान-सम्मान केवल नाम और रूप के मोह के कारण होते हैं, जो दोनो ही क्षण - भंगुर हैं। फिर इन सबका अस्तित्व ही कितना? नाम उस आत्मा का थोड़े ही है, यह तो उस स्थूल शरीर का है, सो भी अस्थिर। यदि माता-पिता को सुरेश अच्छा न लगे, तो रमेश कहकर पुकार लें। बस, नाम का इतना ही अस्तित्व है। रहा रूप, सो हम इसे अपना स्वरूप समझने लग जाते हैं। किंतु यह मानव कितनी भूल करता है, वह यह नहीं जानता कि यह आत्मा बिलकुल अरूप है। भूल से ही मनुष्य संसार के बाहरी रूप पर मोहित हो जाता है, वर्ना संसार पूर्ण रूप से शुद्ध और पवित्र है। इतना ही क्यों, मानव के आत्मिक ह्रास का एक दूसरा कारण और भी है, वह है मैं—'अहं'। मनुष्य हरएक में इकाई की भाँति इस 'मैं' की स्थिति देखता है, यह उसका भ्रम है। सब संसार को भगवद्मय देखे, तो इसका अस्तित्व ही कहाँ रहेगा।"

अब उसे अपने हृदय में एक बल-सा आता दिखाई पड़ा। उसके मुख-मंडल पर गंभीरता छा गई। वह एकाग्र भाव से आकाश की ओर देखता रहा, और विचार-प्रवाह में बहता गया। अंत में वह सोचने लगा—"मैं कुसुम की ओर क्यों खिचता जा रहा हूँ? मैं उससे क्यों प्रेम करता हूँ? सौंदर्य के कारण? तो मेरा प्रेम स्वार्थ-पूर्ण है। कुसुम तो उस अनंत सौंदर्य के भांडार का एक प्रतीक है। फिर, वह

सौंदर्य तो क्षण-भंगुर है। मुझे तो इसके सहारे यह अनुमान लगाना चाहिए कि वह असीम सौंदर्य कैसा होगा? मुझे तो उस असीम सौंदर्य को प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। मुझे कुसुम को भूल जाना चाहिए। इतना ही क्यों, गीता भी तो कहती है—'तुम स्वयं सबसे सुंदर हो, तुमसे अधिक और कोई सुंदर नहीं, सारी सृष्टि की सुंदरता तुममें व्याप्त है, क्योंकि तुम सबमें व्याप्त हो।'"

यह सोचकर बड़े मनोयोग के साथ वह क्षितिज की ओर देखने लगा। परंतु देखता क्या है कि क्षितिज के उस पार, संध्या के सुनहले प्रकाश में, बादलों पर बैठी, उसकी कुसुम आ रही है। हैं! फिर उसका ध्यान! उसका चित्र...! वह चौंक-सा उठा। उसने नेत्र बंद किए। किंतु इससे क्या, वह वस्तु तो उसके अंतर में व्याप्त थी—दर्शन भी उसे न रोक सका। उसका विश्वास कुछ ढीला-सा हो गया, और हृदय पुनः उद्विग्न हो उठा—"आह! भगवन्! यह क्या छलना है, क्या रहस्य है।" वह नेत्र बंद किए मन-ही-मन गुनगुनाने लगा। उसके हृदय में एक अज्ञात अभिलाषा-सी जाग उठी, उसकी कल्पना अतीत की स्मृतियों में रंग भरने लगी—"यह वह उद्यान है, जहाँ हम दोनो टहलने जाया करते थे। अरे, यह वह पेड़...वही, जहाँ हमने..." हैं! यह फिर क्या? वह झुँझला उठा। मैं क्यों न उसे भूल जाऊँ। मैं उसे, उसके

प्रेम, सबको भूलना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ, मेरा पूर्व जीवन कुछ है ही नहीं।

अब उसके नेत्र खुले, शीतल समीर के झकोरे ने हृदय में एक गुदगुदी-सी पैदा कर दी। वह फिर यमुना के प्रवाह की ओर देखने लगा। विचार एक-एक करके उसके मस्तिष्क में फिरने लगे—"कैसा स्वप्न-संसार था, कितना मधुर मिलन था! ओह! वे भावी जीवन की आशाएँ...! आह! फिर वही स्मृति...मैं कहता हूँ, वह कुछ नहीं था, सब व्यर्थ था। बिलकुल निरर्थक...।" वह एक आवेश से अपने दोनो हाथों से आँखें बंद करके कुछ क्षण के लिये बैठ गया।

ऐसा देखा गया है कि हम जिस वस्तु को भूलना चाहते हैं, वह अत्यधिक हमारे निकट आती जाती है। इस परोक्ष की आकर्षण-शक्ति का अनुभव जीवन में कभी-कभी एक वेग के साथ होता है, जो मानव के बाहर-भीतर एक भीषण क्रांति उपस्थित कर देता है। सुरेश के जीवन में भी आज कुछ ऐसी ही क्रांति थी।

आखिरकार उसका हृदय बहुत विचलित हो गया—उसका मन भगवान् के दर्शन के लिये व्यग्र हो उठा। कुछ शांति की आशा में बुर्ज को छोड़कर वह मंदिर में गया। बड़े विनीत भाव से सिर नवाकर भगवान् के दर्शनों में तन्मय हो गया। उसका कंठ गद्गद हो उठा, नेत्रों से अश्रुओं की अविरल धारा बह निकली। वह बहुत देर तक

नेत्र बंद किए खड़ा रहा—अपने को भूल-सा गया। परंतु उसके गीले नेत्रों के अंदर भगवान् का एक अद्भुत चित्र चित्रित होने लगा। उसने देखा, उसकी कुसुम भगवान् कृष्ण के हाथों से वंशी छीन रही है। उसकी ओर देख-देखकर बिहँस रही है...वह वहाँ अधिक न ठहर सका। वह बड़बड़ा उठा—"कुसुम, मैं तुम्हें भूलना चाहता हूँ—तुम यहाँ भी पीछा नहीं छोड़तीं। मैं समझ नहीं पाता, आखिर क्या बात है कि तुम भूले नहीं भूलतीं ? यह क्या विडंबना है, प्रभो !" यह बड़बड़ाता हुआ, बड़ी तेज़ी के साथ वह भीड़ को चीरता मंदिर से बाहर आया, और अर्द्ध-विक्षिप्तों की अवस्था में मन-ही-मन कुछ गुनगुनाता अंधकार में विलीन हो गया।

इसके बाद फिर किसी ने उस बुर्ज पर उसे न देखा।

तीन

बदला

"बेटा !...पा...नी।"

वृद्धा ने अपना सिर कुछ ऊँचा करके कहा। एक टूटी-सी खटिया पर मैले चिथड़ों में एक वृद्धा पड़ी थी। उसकी आँखें बैठ गई थीं, साँस रुक-रुककर चल रही थी, शरीर अंगारे की भाँति जल रहा था। हाथ-पैर बिलकुल निर्बल हो गए थे। वह दुख से पीड़ित, करुणा की सजीव मूर्ति, घबरा रही थी। क्यों ? केवल अपने जीवन के मोह के लिये ही नहीं।

सुरेश उसी खाट पर नीचे की ओर बैठा बड़ी श्रद्धा से पैर दबा रहा था। अपनी माता की करुणा-पूर्ण आवाज़ सुनकर उसने एक गिलास भरकर पानी पिलाया। वृद्धा ने भाव-पूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखा। उसकी आँखों में अश्रु-कण झलक आए।

सुरेश इन अश्रुओं का मंतव्य समझ गया। दो ग़रीब हृदयों का तादात्म्य कराने के लिये उनसे अधिक उसके पास और क्या था ? वह बेतहाशा रायबहादुर डा० पी० एन्०

चतुर्वेदी के पास भागा। उसने डॉक्टर साहब से अपनी माता को देखने के लिये प्रार्थना की—कुछ आशा से, किंतु डॉक्टर साहब ने चलने की दस रुपया फ़ीस माँगी। सुरेश चुप हो गया। दस दिन के क्षुधा-पीड़ित मनुष्य के पास चाँदी के दस टुकड़े कहाँ?

उसके मुख-मंडल पर नैराश्य खेलने लगा। वह अवाक् डॉक्टर के मुँह की ओर देखता रहा। अचानक उसके मस्तिष्क में एक विचार आया—उसकी मुद्रा, दुःख-पूर्ण मुद्रा, टूटी। वह सेठ रामनारायणजी के यहाँ गया, और बहुत दीन शब्दों में रुपयों के लिये प्रार्थना की, किंतु सब व्यर्थ। भला, संसार में रुपए कहीं ग़रीब के लिये भी होते हैं। सेठजी उसकी सूरत देखते ही उससे यमदूत की भाँति डरने लगे। यद्यपि उसने बड़े करुण शब्दों में रुपयों की प्रार्थना की थी, किंतु रुपएवालों के लिये एक ग़रीब की करुण अवस्था का मूल्य ही क्या? इतना ही क्यों?... सेठजी को डर था, कहीं पुलिस का मुझ पर भी शक न हो जाय। उन्होंने रुपए न दिए। वह निराश, धीमे-धीमे क़दमों से, कांग्रेस-दफ़्तर की ओर चला। उसके हृदय की गति तीव्र हो गई। उसके मस्तिष्क में अनेकों संकल्प-विकल्प उठ रहे थे। द्विविधा में पड़ा वह। कुछ देर सोचता रहा। अंत में निश्चय कर ही लिया, और मंत्रीजी से रुपयों की प्रार्थना की। प्रार्थना स्वीकार हुई—रुपए मिल गए। वहाँ से रुपए लेकर बड़ी

आशा से डॉक्टर की दूकान की ओर दौड़ा। वह इतना प्रसन्न प्रतीत होता था, मानो उसे समस्त विश्व की संपत्ति मिल गई हो। दूकान पर आकर उस काग़ज़ के टुकड़े को डॉक्टर के पास फेक दिया, और शीघ्र चलने को कहा। उसे आशा थी कि यह काग़ज़ का टुकड़ा अवश्य कुछ शक्ति रखता है, और डॉक्टर को बलात् चलने के लिये बाध्य कर सकेगा।

किंतु..... ?

डॉक्टर उसे देखकर हँस दिया। बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से उसने कहा—"मैंने तो आपसे हँसी में कहा था। मैं आपके घर नहीं जा सकता। तुम्हारे घर जाना आशंका और संकट से ख़ाली नहीं। मैं व्यर्थ में अपनी जान क्यों फँसाऊँ ?"

वह चित्र-लिखा-सा सुनता रहा। उसका मस्तिष्क अनेकों विचारों से रुँध गया। वह घर लौटना चाहता था, परंतु घर की ओर उसके पैर नहीं पड़ते थे। उसके मन में अनेकों आशंकाएँ उठ रही थीं, और नेत्रों से बलात् अश्रुओं की अविरल धारा बह रही थी, किंतु विना मूल्य के दीन के आँसुओं का क्या मूल्य ठहरा !

जैसे-तैसे बड़ी कठिनाई से घर आया। दरवाज़े पर पुकारा—"मा !" परंतु उसे वह प्रेममय ध्वनि सुनाई नहीं दी, जिसकी उसे आशा थी। उसका हृदय 'धक्' करके रह गया। वह घर के अंदर गया, और अपनी माता की बहुत

चिंता-जनक हालत देखकर उससे चिपट गया। माता की अभी साँस बाक़ी थी। शायद वृद्धा ने बड़े प्रयत्न से इसीलिये रख छोड़ी थी क्या? वृद्धा ने अश्रु-पूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखा, और आँखें बंद कर लीं। बुख़ार बड़े ज़ोरों से था—उसके अंग से आग की-सी लपटें निकल रही थीं। उसने अपने निर्बल हाथ से सुरेश को अपने पास बैठने का इशारा किया। सुरेश गया। वृद्धा ने उसके सिर पर हाथ रक्खा। एक ज़ोर से हिचकी आई, और बुढ़िया के प्राण-पखेरू उड़ गए! सुरेश भी एक लंबी चीत्कार मारकर शव पर गिर पड़ा, और मूर्च्छित हो गया।

कुछ क्षण उपरांत वह उठा, और शव को निराश आँखों से देखा। वह गुनगुनाया—"आह! कैसा अन्याय! कितना अमानुषिक व्यवहार!!"

यदि एक आदमी अपने देश से प्रेम करे, अपनी स्वतंत्रता के संग्राम में भाग ले, तो वह पापी है, विद्रोही है, कैसी कूट-नीति है यह। कुछ समय के लिये उसने पुनः नेत्र बंद कर लिए। वह कुछ हँसा, और ख़ूब अट्टहास करके हँसा, किंतु फिर विचार-निमग्न......,...यहाँ मानवता का यही आदर है? क्या इस स्वार्थमय वातावरण में एक ग़रीब के लिये आश्रय नहीं। उसने पास पड़े शव की ओर देखा। हठात् अश्रुओं की अविरल धारा बह निकली। मस्तिष्क में विचार-धारा भी चलती गई।

वह अचानक चौंक पड़ा—"डॉक्टर !"………डॉक्टर क्यों नहीं आया ? इसीलिये न कि मैं देश के संग्राम में भाग लेता हूँ। तब ? क्या देश की सेवा नहीं करनी चाहिए ? वह कुछ देर चुप रहा। "अवश्य करनी चाहिए।" हठात् उसके मुँह से निकला, और एक दृष्टि शव की ओर डाली। वह कुछ क्रोध से बड़बड़ा उठा। किंतु डॉक्टर ? वह हत्यारा है, अत्याचारी है।

उसने शव हाथों में उठा लिया। उसे हाथों में लेकर इधर-से-उधर घूमता रहा। "अब इसका मेरे लिये क्या उपयोग है ? कुछ नहीं, यह शव मेरे क्या काम आ सकता है, और जीवित डॉक्टर ? वह भी मेरे कुछ उपयोग का न हुआ। तब, वही क्यों यहाँ रहने का अधिकार रखता है ? उपयोग की दृष्टि से इस शव और उस जीवित डॉक्टर में अंतर ही क्या रहा ? कुछ नहीं, किंतु मानवता के विकास के लिये हमें चाहिए क्या—हममें से प्रत्येक का परस्पर पूर्ण योग। नहीं-नहीं, वह हत्यारा है, पापी है, यहाँ रहने का अधिकारी नहीं।" यह कहते-कहते उसने शव धरती पर रख दिया, और एक लंबी चीत्कार के साथ आप भी उस पर गिर पड़ा।

कुछ ही समय उपरांत वह पागल की भाँति उठा, शव को हाथों में उठा लिया, और उसे लेकर अंधाधुंध डॉक्टर की दूकान की ओर भागा। दुर्भाग्य से एक बड़े पत्थर से टक्कर खाकर गिर पड़ा—सिर से खून निकलने लगा। फिर

उठा, और डॉक्टर की दूकान तक पहुँच गया। डॉक्टर साहब एक मरीज़ को देख रहे थे, इतने में उसने ही शव ले जाकर उनकी मेज़ पर रख दिया। और........वही, जो हृदय-टूटा एक ग़रीब अपनी प्रतिहिंसा, नैराश्य-पूर्ण प्रतिहिंसा के लिये कर सकता था, एक बड़ा-सा चाक़ू लेकर उसने डॉक्टर की छाती में घुसेड़ दिया। डॉक्टर आह करके ज़मीन पर गिर पड़ा!

वह दोनो शवों को देखकर हँसा—पूर्ण अट्टहास के साथ हँसा। उसकी ध्वनि शून्य में विलीन हो गई, और बाहर......?

स्वच्छ चाँदनी, रात्रि का समय, नील आकाश में पूर्ण चंद्रदेव अपनी मंद मुस्किराहट के साथ प्रत्येक वस्तु को अंधकार से प्रकाश में लाकर प्रकृति में एक नवीन जीवन भर रहे थे। धीमी, किंतु शीतल बयार गंगा के कल-कल के साथ उसमें प्रतिपल छोटी-छोटी लहरें उठा रही थी। किंतु क्या?......जीवन की भाँति ही वे शीघ्र विलीन हो जाती थीं।

इस शांत वातावरण में एक मूर्ति दो लाशों को दोनो कंधों पर रक्खे मंथर गति से बढ़ी चली जा रही थी—परंतु निर्विकार भाव से। पीछे हल्ला हो रहा था—"ख़ून! ख़ून!! डॉक्टर साहब का ख़ून!!! क़ातिल को पकड़ो।"

(संघर्ष में प्रकाशित)

चार

प्रतिच्छाया

हृदय में उल्लास भरे आज दयाशंकर अपने भविष्य पर विचार कर रहा था। उसे अपना आगामी जीवन बड़ा मधुर और सुखप्रद प्रतीत हो रहा था। एक के बाद एक वैभव के कल्पना-चित्र उसके मस्तिष्क में बनते और बिगड़ जाते। कभी सोचता—क्या यह सचमुच सत्य है कि ताऊजी मुझे गोद लेंगे...? नहीं, ऐसा होना कुछ असंभव-सा है। आज से दो वर्ष पूर्व तो उन्होंने पढ़ाई के लिये खर्च देने से भी मना कर दिया था, आज क्या इतनी विशाल धन-राशि मेरे हाथों में सौंप देंगे......?

फिर अपने उद्विग्न मन को शांति देने के लिये कहता—"हो सकता है, संसार अपने स्वार्थ के लिये सब कुछ कर सकता है। किंतु क्या पिताजी मुझे दे देंगे? क्यों नहीं, उन्हें मेरा धनवान् होना अवश्य पसंद आएगा...अच्छा, यदि सब कुछ ऐसा ही हुआ, तो? मैं संसार में धनवान् हो जाऊँगा—एक विशाल धन-राशि का स्वामी! संसार के सब सुख मेरे चरणों पर होंगे। इसमें किसी की उदारता नहीं,

किसी का उपकार नहीं, वरन् ताऊजी अपने स्वार्थ के लिये ही मुझे गोद लेंगे। मुझमें वह शक्ति है कि मैं उनके एक अभाव की पूर्ति कर सकूँ। यह तो उनकी आवश्यकता है, और मेरा अधिकार। फिर, किसी की उदारता और प्रेम का क्या प्रश्न ?"

इस प्रकार आत्ममहत्त्व पर विचार करते-करते अपने को भूल-सा जाता। कुछ क्षण उपरांत पुनः सोचने लगता—सब संसार धन के लिये प्रेम करता है। भाई शिवशंकर ताऊजी के लिये मरे जाते हैं—इसी आशा से कि वह उन्हें गोद ले लें। किंतु अब उन्हें अपने स्वप्नों को बिखरता देखकर अपने प्रेमाडंबर की निरर्थकता का ज्ञान होगा। अब मुझे उस धन-राशि का मालिक देखकर उनका हृदय जल उठेगा। अरे, धन के लिये क्या अपना व्यक्तित्व खो देना चाहिए ? यह नितांत धूर्तता है। किंतु धूर्तता का अस्तित्व ही कितना ?

वह यह सोचते-सोचते आकाश की ओर देखने लगा। वहाँ भी चंद्रदेव उसकी इस प्रसन्नता पर मुस्किरा रहे थे। चंद्रिका-चर्चित रजनी दूध में स्नान किए उसके अंतर के उल्लास का संदेस दे रही थी। चंद्रमा की ओर देखते-देखते वह अपने भावी सुख-स्वप्नों में रंग भरने लगा।

सेठ मातादीन कलकत्ते के धनी-मानी पुरुष थे। आपके दो छोटे भाई और भी थे। उनमें से मँझले भाई के एक

पुत्र था, जिसका नाम था शिवशंकर, तथा तीसरे भाई के दयाशंकर और मायाशंकर-नामक दो पुत्र थे। सेठजी के कोई संतान न थी। इस अभाव के कारण उन्हें अपना जीवन कुछ रूखा लगता। आपके भोले हृदय पर धर्म की भी गहरी छाप थी। आपका विश्वास था, अपुत्र की परलोक में भी गति नहीं हो सकती। इस प्रेरणा से प्रेरित तथा जीवन को सरस बनाने की भावना से आपने एक पुत्र गोद लेने का निश्चय कर लिया था।

वैसे तीनो भाई अलग-अलग रहते थे। तीसरे भाई की आर्थिक स्थिति कुछ विशेष अच्छी न थी। ऐसी परिस्थिति की एक गहरी छाप दयाशंकर के जीवन पर पड़ी थी। उसे यह पूर्णतया ज्ञात था कि मैं एक ग़रीब पिता का पुत्र हूँ। इस प्रकार स्वभावतः धनवानों के प्रति उसे घृणा हो गई थी। वह उनके स्वार्थों का थोथापन समझता था, और यह भी जानता था कि ये लोग बहुधा अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिये धन का उपयोग भले प्रकार करना जानते हैं। इसके साथ ही वह अपनी आवश्यकता से भी अनभिज्ञ न था। उसके नेत्रों में अपने अस्तित्व का एक निजी मूल्य था।

दूसरी ओर शिवशंकर अपने पिता का इकलौता पुत्र था। हिंदू-नियम के अनुसार इकलौता पुत्र गोद नहीं लिया जा सकता था, और न शिवशंकर के पिता का ही यह विचार था कि वह अपनी जीवन-निधि दूसरों के हाथों बेच दें।

इस प्रकार यह निश्चित था कि यदि मातादीन किसी को गोद लेंगे, तो वह दयाशंकर ही था। शिवशंकर ताऊजी से अटूट प्रेम करता था। किंतु क्यों? यह वह नहीं जानता था। इतना तो अवश्य था कि यह उसकी स्वप्न में भी लालसा न थी कि वह ताऊजी की संपत्ति का स्वामी बने। वह अपनी असमर्थता भले प्रकार समझता था। स्वभावतः ताऊजी की प्रत्येक सेवा करने की उसकी हार्दिक अभिलाषा थी। दया-शंकर को यह बात अखरती थी। अन्य लोगों ने भी उसके इस प्रेम को ग़लत समझा, तथा इसे धन से संबंधित करने का प्रयत्न किया। ताऊजी का भी कुछ ऐसा ही विचार था।

जिस पूर्व-निश्चय ने दयाशंकर के जीवन को एक विशेष रूप दिया था, तथा अपने और दूसरों को समझने का एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया था, आखिरकार वही हुआ। मातादीन ने दयाशंकर को ही गोद लिया। शहर-भर में यह ख़बर बिजली की भाँति फैल गई। बड़ा समारोह हुआ। ख़ूब रुपया ख़र्च किया गया, तथा इष्ट-मित्रों को दावतें दी गईं। शिवशंकर ने जब यह समाचार सुना, तो उसे अत्यंत प्रसन्नता हुई। इससे अधिक अच्छी बात और क्या हो सकती थी कि दयाशंकर गोद लिया जाय। वह तो यह चाहता ही था। दयाशंकर को वह हृदय से प्रेम करता था। उसके इस भावी सुखी जीवन को देखकर वह फूला न

समाया। बड़ी धूमधाम से यह कार्य पूर्ण हुआ। सेठ माता-दीन अपने जीवन के सुख-स्वप्नों में उतराने लगे। पिता और पुत्र साथ-साथ रहने लगे।

❀ ❀ ❀

दो वर्ष पश्चात्—

जिस अभाव को पूर्ण करने के लिये सेठ मातादीन ने पुत्र गोद लिया था, वह संसार की दृष्टि में पूर्ण तो अवश्य हो गया, किंतु उनके अंतर्हृदय की स्थिति ज्यों-की-त्यों रही। उनका सब कल्पना-संसार बाहर और भीतर के इस अंतर में विलीन हो गया। उनका वात्सल्य प्रेम बिखर गया। पिता और पुत्र के जीवन के बीच सदैव एक संघर्ष रहता—दयाशंकर बात-बात में पिता की अवहेलना करता, पग-पग पर उनका विरोध करता। इसने मातादीन का जीवन और भी नीरस बना दिया।

उधर दयाशंकर को भी अपना जीवन भार-सा, दुःख से पूर्ण तथा कुछ घिरा-घिरा-सा लगता।

दोनो ओर असंतोष था, और था सुखमय जीवन का एक आदर्श, जिसके बीच का अंतर इतना विस्तृत था कि दोनो प्रयत्न करने पर भी तय नहीं कर पाते थे। फिर भी, हृदय की भूख मिटाने के लिये मातादीन ने उसका विवाह भी किया, किंतु विवाह होने के पश्चात् ही दयाशंकर पिताजी

से अलग हो गया। वह शहर के एक कोने में एक छोटी-सी दूकान करने लगा।

मातादीन की सब आशाएँ टूट गईं, और दोनो का स्वप्न-संसार चिर काल तक ज्यों-का-त्यों ही रहा।

पाँच

पराजय

उस सुनहली संध्या के रंगीन स्वप्नों में रंग भरती हुई जब हरभेजी उस कुएँ पर आती थी, तो उसकी आँखें बरबस कुछ इधर-उधर ढूँढ़ने को लालायित हो उठतीं। उस समय ऐसा प्रतीत होता, मानो उसका कुछ खो गया है। उसी क्षण, उस झुरमुट के उस ओर, पीपल के पेड़ के नीचे, देवर अपनी वंशी की तान छेड़ता। हरभेजी उस संगीत में अपने को खो-सी देती, उसके जिज्ञासु नेत्र हठात् उस ओर जा अटकते, वह बड़ी तन्मयता के साथ उस संगीत को सुनती, वह अपने अपनत्व को उसमें मिलाने का प्रयत्न-सा करती, फिर कुछ भूली-सी पानी भरने लग जाती।

मानव-जीवन के प्रवाह में जब कुछ स्मृतियाँ प्रायः प्रतिदिन ही हरी हो जाती हैं, तो उनका एक अलग ही अस्तित्व हो जाता है, वे उसका आधार हो जाती हैं।

और दिन की भाँति हरभेजी आज भी आई थी; किंतु अब उसके नेत्र भूले-से इधर-उधर न देखकर सीधे उस झुरमुट की ओर जा लगे। देवर वहीं पीपल के पेड़ के तने पर

बैठा था। उसे देखकर वह भी उसकी ओर एकटक देखने लगा। उसे ध्यान न रहा कि वह अपनी वंशी बजाए।

हरभेजी के मुखमंडल पर एक व्याकुलता की रेखा खिंच गई। उसके नेत्र एक वस्तु के लिये मूक प्रार्थना कर रहे थे, किंतु देवर उसे देखने में संलग्न था। वह सोच रहा था, इस दुनिया में निर्मल प्रेम का अस्तित्व ही क्या ? मानव ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये अपने चारो ओर सीमा बाँध ली है। सर्वप्रथम तो वह मनुष्य है, यह बंधन; फिर, वह उस जाति का है, फिर उस धर्म का है, इस प्रकार अपने को कितना संकुचित कर लिया है। क्या हरभेजी के पिता यह चाहेंगे कि मैं चमार होते हुए भी प्रेम कर सकता हूँ ? एक मनुष्य यदि किसी दूसरे मनुष्य से प्रेम करे, तो उसमें अस्वाभाविक ही क्या, जिसके लिये इतने बंधन......

वह यह सोच ही रहा था कि एक धीमी-सी आवाज़ आई—"देवर.. ...!"

वह चौंक पड़ा। यह पहला मौक़ा था, जब हरभेजी ने उसे पुकारा था। उसने उसे सुनते हुए भी अनसुना कर दिया। हरभेजी ने फिर कड़ककर कहा—"ओ देवर ! सुनता नहीं !"

अब की बार देवर ने कहा—"क्यों, क्या बात है ?"

"अरे, तू अपनी वंशी क्यों नहीं बजाता ?" और वह प्रश्न-सूचक दृष्टि से उसकी ओर देखने लगी।

यह सुनकर देवर चौंक-सा पड़ा। उसे ऐसा लगा, जैसे उसे अपनी किसी भारी भूल की याद आ गई हो।

उसका चेहरा ग्लानि से भर गया, और वह कुछ स्तब्ध-सा हो उठा। जीवन की वह स्फूर्ति—वह प्रेरणा जो कभी वंशी बजाने के समय प्रतीत होती थी, आज उसकी उस ग्लानि में समा गई। वह वंशी न बजा सका। उसके कहने पर बजाई, तो क्या......?

उसने फिर कहा—"देवर! बजाओ भी तो वंशी। देख न, मुझे घर जाने को देर हो रही है।"

"आज मैं नहीं बजा सकता।" देवर ने धीमे स्वर से कहा।

"क्यों?"

"यों ही।"

"तब भी तो?"

"तब भी तो क्या? मैंने कह दिया, मैं आज नहीं बजा सकता।"

उसका चेहरा कुछ तमतमा उठा।

"अच्छा! तुझे अपनी वंशी पर घमंड है। नीच की जाति ही ठहरी—मत बजा तब?"

हरभेजी कह तो गई, किंतु उसका हृदय उबलकर नेत्रों से बहने लगा। उधर देवर सोच रहा था, मैं क्यों न बजा दूँ। किंतु........? प्रयत्न करने पर भी नहीं बजा पाता

था। एक खीझ का-सा भाव उसके सब प्रयत्नों को निष्फल कर देता। आख़िर हरभेजी क्षुब्ध हृदय से अपने घर चली गई। देवर शून्य दृष्टि से उसकी ओर देखता रहा।

❀ ❀ ❀

हरभेजी आज कुएँ पर आकर विना विलंब लगाए तथा इधर-उधर देखे पानी भरने में लग गई। आज देवर की ओर उसने पहले की भाँति न देखा। उसकी वंशी की सुरीली तान भी उसे मोहित न कर सकी। हाँ, कभी-कभी कुछ भाव-पूर्ण नेत्रों से देवर की ओर देख लेती, किंतु कोशिश यह करती कि उसे यह बात मालूम न हो जाय।

अकस्मात् उसकी घड़िया कुएँ में टकराई और उसके विषाद की भाँति फूट पड़ी। वह किं-कर्तव्य-विमूढ़-सी देखती रह गई। उसका घड़ा आधा भरा था। घर वहाँ से बहुत दूर था। उधर मा के चिल्लाने का डर—उसके नेत्रों में आँसू झलक आए। वह निरुपाय-सी देवर की ओर देखने लगी।

अब देवर से भी न रहा गया। उसने अपनी वंशी रक्खी, और अपनी डोल-बाल्टी लेकर हरभेजी के पास आकर कहा—"यदि आप कहें, तो मैं इसे भर दूँ।"

हरभेजी तुनककर बोली—"तुम्हें इससे क्या? तुम क्यों भर दो? चमार का पानी मैं कैसे ले जा सकती हूँ? धर्म.........?"

वह पूरा कहने भी न पाई थी कि देवर बोला—"अच्छा, मैं न सही, तो आप ही इस से भर लें।" और, अपनी डोल-बाल्टी उसके सामने कर सहानुभूति-पूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखने लगा।

अब कुछ हरभेजी का हृदय भी भीतर-बाहर पर विजय प्राप्त कर चुका था। वह भी अब ज्यादा न छिपा सकी, और रो पड़ी। करती भी क्या ? उसने कहा–"देवर! तुम भूलते हो। मैं तुम्हारे बर्तन से कैसे पानी भर सकती हूँ ?"

"क्यों ?"

देवर ने पूछा, मानो उसे नहीं मालूम था कि वह चमार का लड़का है, और हरभेजी जाट की बेटी।

"हम तुम्हारा छुआ पानी नहीं पी सकते।" हरभेजी ने दुख से कहा।

मानव-समाज के अंदर अंतर पैदा करनेवाली वस्तु—जाति आज देवर के उस प्रेम के एकीकरण-भाव को क्या समझती, जिसकी दुनिया में प्रत्येक मनुष्य मनुष्य है। न कोई ऊँचा, और न कोई नीचा। जहाँ संसार के बंधन नहीं, जहाँ आत्मा का बलिदान नहीं। देवर ने फिर गंभीर भाव से पूछा—"तब तुम क्या करोगी ? कहो तो, तुम्हारे यहाँ से डोल-बाल्टी माँग ला दूँ।"

"ओ देवर ! तुम तो पागल हो गए हो। बहुत जल्दी भूल

जाते हो ! अरे, हम तुम्हारे छुए बर्तन से पानी भी नहीं भर सकते।"

अब देवर को भी ज्ञात हुआ कि वह प्रेम की दुनिया में नहीं, मानव की अपनी दुनिया में है।

वह उदास भाव से कुछ भूला-सा एक ओर चल दिया। हरभेजी पुकारती रही "देवर!" किंतु उसने फिरकर नहीं देखा।

कुआँ था, डोल-बाल्टी थी, किंतु हरभेजी विना पानी घर लौटी।

देवर पागल था, किंतु उनमें से कौन पागल था ? यह दुनिया क्या जाने।

❀ ❀ ❀

आज उस घटना को पूरा वर्ष-भर हो गया, परंतु हरभेजी ने फिर कभी देवर को वहाँ न पाया। वह कुएँ पर घंटों खड़ी रहती, किंतु निष्फल। वह वंशी का सुरीला गान, वह भोलापन अब एक स्वप्न की-सी बात थी, जो हृदय में चिर-स्मृति-सी बनी बैठी थी। गाँव की और स्त्रियाँ कहतीं—"किसी से नेत्र लग गए हैं। कहो हरभेजी, क्या उस चमार के लड़के की तलाश में हो ?"

हरभेजी दो आँसू टपका देती, और कुछ न कहती।

छः

थोड़ा और दूर

गाड़ी के डिब्बे में, एक कोने में, बैठा सुरेश अतीत की स्मृतियों में बँधा कुछ सोच-सा रहा था—अहा ! वे कैसी रँगीली संध्याएँ थीं ! जब मैं और वह यमुना-किनारे टहलने जाते, तब संध्या के हिलोरें लेते नीर की मर्मर में मुझे ऐसा प्रतीत होता, मानो मेरे जीवन का कोई भूला-सा राग अलापा जा रहा हो। शीतल पवन आ-आकर हमारे हृदयों में एक गुदगुदी-सी पैदा कर जाया करती। मैं फूल से भी हल्का हुआ बहुत दूर निकल जाता..........उस दीपक के मंद प्रकाश के पास पहुँचकर मैं कहता—"माधवी ! चलो, लौट चलें। देखो, हम बहुत दूर आ गए हैं।" वह सहसा चौंककर कहती—"थोड़ा और दूर "......मैं कुछ पागल-सा बौखला उठता—"माधवी ! चलने में कोई हर्ज नहीं। चलो, चाहे जितना चलो। जी भरकर चलो। किंतु यह पथ बड़ा कठिन है। मानव-जीवन में क्रांति कर देनेवाले झंझावात हमें और तुम्हें झकझोर देंगे। हम यह अपना लक्ष्य स्पष्ट कर लें, फिर चलें। थोड़ी दूर क्या, बहुत दूर—क्षितिज के उस ओर।"

वह भोली-सी मेरी ओर एकटक देखती रहती कहती, मैं नहीं समझी। आप क्या कह रहे हैं? अजी, कुछ दूर और टहल आवें, मेरे कहने का यह अभिप्राय है। तुम यह क्या पचड़ा अलाप बैठे? "हाँ, बात तो ठीक।" मैं कुछ नींद से जाग उठता।

हिंदू मिठाई.. ......ठंडा पानी ....हैं! क्या अभी यह वही स्टेशन है या दूसरा? उसने खिड़की से बाहर झुक-कर देखा, तो वही स्टेशन!

"क्यों साहब, गाड़ी अभी तक चली नहीं है क्या? क्या मैं ही सोच रहा हूँ कि गाड़ी चल रही है।"

सुरेश ने निकट बैठे एक सज्जन से पूछा।

वह सज्जन इनकी ओर देखकर, खिलखिलाकर हँस पड़े। सुरेश झेंपकर अपनी जगह जा बैठा। इतने में गाड़ी ने सीटी दी, और धुआँ निकालती चल पड़ी।

उसके मस्तिष्क में भी विचार-धारा गाड़ी की चाल से प्रतिस्पर्धा करने लगी—हाँ, वह सुनहला प्रभात जीवन के स्मृति-पटल से भला कैसे हटाया जा सकता है? जब उस बाग़ में हम दोनों मिले थे, कैसा प्यारा मिलन था! उस समय ऐसा लगता था कि हम फिर कभी अलग न होंगे। उसने अपनी करुण कहानी सुनाई। नेत्रों से अश्रु-कण मोती की भाँति टपक पड़े। सुमनों में भी हमारी भाँति यौवन ओत-प्रोत था। वे भी उसकी मादकता से अल्हड़पन के साथ

बिहँस रहे थे। तब, क्या हमने प्रतिज्ञा की ? इसके उपरांत... स्वर्णिम उषा ने हमारी प्रेम-क्रीड़ा देखी थी। आह! वह दिन! फिर कभी...? उसके नेत्रों से अश्रुओं की धारा बह निकली। वे रुँधे नेत्र भागते हुए वृक्षों को व्यर्थ देखने का प्रयास करने लगे। उसे ऐसा लग रहा था, मानो एक-एक वृक्ष से उसके जीवन की एक-एक स्मृति बँधी है। जितनी गाड़ी तेज़ चलती थी, उसको चलने में संतोष था, उसका विचार-प्रवाह भी उतने ही वेग से बढ़ता जाता। सोचता, आखिर उसने क्यों कहा कि मैं उसे भूल जाऊँ। यदि उसकी शादी दूसरे से हो गई, तो क्या? मैं कोई अधिकार नहीं चाहता। मैं तो निर्मल प्रेम चाहता था। क्या वह उन दिनों को ऐसा भूल गई? अभी भूली तो न होगी। हम तुम एक साथ रहेंगे। उसने कहा था। फिर ऐसा क्यों ? मैं तो उससे आगे चलने की मनाही करता था। फिर ऐसा क्यों? फिर दूसरे की..... और, मना करने के बाद वह रोई क्यों पगली? कहा—"सुरेश, तुम अब जाओ।" अकेले अब मैं बहुत दूर जाने की कोशिश कर रहा हूँ—अपने मन से मैं तो उसे जब ही भूल सकता था। फिर ?

सहसा गाड़ी एक स्टेशन पर आकर रुक गई। उसे भी ऐसा लगा, मानो उसके सामने एक विशाल भीत आ खड़ी हुई हो। एक-एक करके सब यात्री डिब्बे से निकल गए। गाड़ी बिलकुल ख़ाली हो गई थी, किंतु वह वहीं बैठा था। एक

कुली झाड़ू हाथ में लिए आया। बोला—"बाबूजी, उतरिएगा। यह गाड़ी यहीं ठहरेगी, आगे नहीं जायगी।"

सुरेश यह सुनकर मानो स्वप्न से जगा। कुली से बिहँसकर बोला—"अरे! स्टेशन तो वहाँ, यह यहीं क्यों रुक गई? अच्छा था, थोड़ी दूर और चल लेती, तो वहाँ उतर पड़ता। खैर, यहीं उतर जाऊँगा।"

कुली उनको इस बहकी-बहकी बात को न समझ सका। वह असमंजस से उनकी ओर देखता रहा। सुरेश उसके भाव को ताड़ गया—"भाई! आश्चर्य क्या? मैं समझता हूँ कि यह स्टेशन है। गाड़ी आगे न जायगी, किंतु थोड़ा और दूर...।"

गाड़ी डाक से मिलान होने के कारण स्टेशन से कुछ थोड़ी दूर इधर ही रुक गई थी।

सुरेश अपना बिस्तर आदि तथा टिकिट भी हाथ में ले लाइन क्रॉस करके जाने लगा। वह जा ही रहा था कि डाक गाड़ी ने बिलकुल उसके निकट आकर सीटी दी। उधर दूसरी लाइन पर पैसेंजर भी आ गई। उसने न सुना। ड्राइवर ने बहुत कोशिश की, किंतु डाक क्या इतनी जल्दी थोड़े ही रुक सकती थी, उससे टकरा गई। वह पटरी पर कटे वृक्ष की भाँति गिर पड़ा!

❀ ❀ ❀

बाद में लोगों ने देखा, एक लाश पड़ी है। उसके हाथ में टिकिट है।

टिकिट देखने से पता लगा कि वह उसी स्टेशन तक का है, किंतु यात्री अभी स्टेशन से कुछ दूर पीछे ही अपनी यात्रा समाप्त कर चुका था।

बेचारा जीवन में बहुत दूर चल चुका था। अब ऐसा प्रतीत होता था, मानो आगे चलने की उसमें सामर्थ्य नहीं रह गई थी।

सात

टकराहट

सुषमा के जीवन में निराशा थी, और था समाज के बंधन के प्रति घोर असंतोष।...वह उसी की बलिवेदी पर प्रतिदिन आँसू बहाया करती, किंतु उसका अंतर शांत न होता था। हो भी कैसे, जब कि उसका भावी कल्पना-संसार इस प्रकार नष्ट कर दिया गया हो। उसके हृदय में अपने भावी गृहस्थ-जीवन के प्रति कैसी उमंगें थीं, कितने रँगीले स्वप्न थे। किंतु अब क्या ? उसकी वे सब आशाएँ तोड़ दी गईं, जिनमें उसका सब उल्लास समा गया। उसे अपना जीवन कुछ घिरा घिरा-सा लगता।

वह पूर्ण युवती थी। पास में भगवान की देन अपूर्व सौंदर्य था। हृदय-पटल पर कॉलेज-जीवन की मनोरम-सुनहली स्मृतियाँ भी अंकित थीं। किंतु आज उसे ऐसा लगता था, मानो उसे उसका पूर्ण मूल्य नहीं मिला है। वह राम-किशोर-जैसे अशिक्षित और काले मनुष्य के योग्य न थी, किंतु करे भी क्या, उसे धन और घराने के बल पर बँधना पड़ा, जिसे वह हृदय से चाहती हुई भी नहीं तुड़ा सकती थी।

उसे अपने सौंदर्य पर गर्व था। वह अपने रूप पर स्वयं ही मोहित थी। उसे वे दिन पूर्ण तरह याद हैं, जब वह दसवीं कक्षा में पढ़ती थी। अपने सहपाठियों में वही एक आकर्षण का केंद्र थी। आज अपने जीवन की उस निधि का स्वामी एक बिलकुल अयोग्य व्यक्ति को देख वह अपने अंतर के रोने में स्वयं घुली जा रही थी, किंतु बाहर कुछ नहीं कह सकती थी। हाँ, वैसे रामकिशोर की छाया से भी उसे घृणा थी। बस, यही उस बेचारे को अपनी असमानता का फल मिल जाता। उसे अपने जीवन में कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि संसार के अन्य व्यक्तियों की भाँति वह भी पति है। अपने प्रेम की उपेक्षा तथा तिरस्कार ही उसे मिला था, जिसे वह सहर्ष स्वीकार कर लेता। करता भी क्या, विवश था। रूप और शिक्षा की कृत्रिमता के सम्मुख अपने पतित्व की हार स्वीकार करनी ही पड़ती।

वह भोले स्वभाव का व्यक्ति था—मामूली-सा पढ़ा-लिखा उसका सीधा-सादापन ही सुषमा को अच्छा नहीं लगता था। वह उसे मूर्ख समझती, वह कॉलेज के एटीकेट तथा आधुनिक सभ्यता के नियम क्या जाने! अपने जीवन के अंदर इतनी कृत्रिमता कैसे लाए? यह उसका अभाव सुषमा को खटकता था। इस अभाव के कारण वह अपने जीवन को भार समझती। यही दोनो के जीवन का असंतोष था।

और दिन की भाँति आज भी सुषमा दर्पण के सामने बैठी अपने बाल बना रही थी। न-मालूम किन भावों में तन्मय थी। बीच-बीच में विहँस उठती। सहसा उसके मुँह से निकला—"भगवन्! मेरे ही भाग्य में यह लिखा था?" वह अपनी बात पूर्ण रूप से कह भी नहीं पाई थी कि रामकिशोर ने आकर कहा—सुषमा!"

सुषमा ने भी देखा कि वह दूकान से खाना खाने के लिये आया है। अब क्या था, और भी तुनककर बैठ गई।

"खाना परोस आओ न?" उसने पुनः कहा। किंतु सुषमा ने कोई उत्तर नहीं दिया। मुँह फुलाए बैठी रही। अब रामकिशोर ने विना उत्तर की प्रतीक्षा किए स्वयं रसोई में जाकर अपने आप खाना परोस लिया, और खा-पीकर फिर दूकान चल दिया। स्वभावतः ही वह गुनगुनाता जाता था—"मैं काहू की न रही, यह रूप है ढलती छाया।" सुषमा के हृदय में ये शब्द बाण-से बिंध रहे थे, किंतु गायक को इसका क्या ज्ञान था।

* * *

जाड़े की रात्रि थी। सब लोग शीत के भय से अपनी-अपनी रजाई में छिपे पड़े थे, किंतु सुषमा अपने दुख से दुःखित सोई न थी। अब वह अपने को विरोधी जीवन का भार उठाने में असमर्थ-सी पा रही थी। वह खाट में पड़ी अपने जीवन पर विचार कर रही थी। एक निश्चय पर

पहुँचना चाहती थी, किंतु पहुँच न पाती थी। उसके अंतर् में बार-बार एक हूक-सी उठती, और वह अपनी व्यथा से रो उठती। उसके मुँह से बार-बार निकलता "ऐसे जीवन से क्या लाभ, क्यों न इसका अंत कर दिया जाय? उनकी यह मजाल ...... ? मैं अब सहन नहीं कर सकती।"

आखिर वह अपने संकल्प-विकल्पों में बँधी-सी उठी। कुछ देर खाट पर बैठे आँखें बंद किए न-जाने क्या-क्या सोचती रही। फिर, किवाड़ खोलकर सड़क की ओर छज्जों पर आई। सहसा बड़े जोर से किसी के गिरने का शब्द सुनाई दिया, और क्षण-भर में देखा कि सुषमा खून से लथ-पथ सड़क पर पड़ी है। सिर में और मुँह पर गहरी चोट लग गई है, जिससे रक्त स्रवित हो रहा था। वह सड़क पर दो घंटे बेहोश पड़ी रही। प्रातः जब यह देखा, तो घर के सब लोग सन्न रह गए। शीघ्र ही उसे प्रबंध के साथ अस्पताल पहुँचा दिया गया।

* * *

अस्पताल में आए सुषमा को तीन दिन हो गए हैं, किंतु उसकी बेहोशी नहीं गई। उसकी अवस्था विक्षिप्तों की-सी हो गई है। सिर और मुँह पर गहरी चोट लगी थी। वह अपनी बेहोशी की हालत में प्रलाप कर रही है—"हाय! मेरे मुँह पर यह खुरंड........अरे! यह कैसा भद्दा निशान पड़ गया है। मैं बहुत बुरी ही लगती होऊँगी।"

रामकिशोर उसे शांत करने का प्रयत्न करता, किंतु वह शांत न होती थी। ओह ! मेरे सिर में भी तो चोट लगी है। मेरा चेहरा तो काला पड़ गया होगा। ओह ! मेरा सौंदर्य... नहीं-नहीं...सब नष्ट...हाँ, वह गा रहे थे—"मैं काहू की न रही, यह रूप है ढलती छाया।" हूँ। . ठीक। यह कहते-कहते वह एक आवेश में आकर खाट से उठ बैठी। वह भागने की चेष्टा करने लगी। रामकिशोर ने बल-पूर्वक उसे लिटा दिया, किंतु उसकी बेहोशी दूर नहीं होती थी। रामकिशोर ने प्याली में भरकर पुनः दवा की ख़ुराक दी, और किं-कर्तव्य-विमूढ़-सा उसकी ओर देखता रहा। अब उसके नेत्रों से अश्रुओं की अविरल धारा बह निकली थी, जिसके द्वारा उसके अंतर का विषाद रिस-रिसकर बह रहा था।

* * *

सुषमा की तबियत ठीक हुए कुछ ही दिन हुए हैं। किंतु अब की सुषमा और इस घटना से पहले की सुषमा में ज़मीन-आसमान का अंतर देखने को मिलता है। जहाँ वह पति की छाया से डरती थी, अब वह पति की छाया बनकर रहती है। दिन-रात वह दत्तचित्त हो रामकिशोर की सेवा करती है। रामकिशोर भी उसकी इस भक्ति पर फूला नहीं समाता। अब जब रामकिशोर दूकान से आता है, तो सुषमा बड़े प्रेम से उसे भोजन कराती है। इसके बाद फिर

आप भोजन करती है। उस दिन ज़रा रामकिशोर के सिर में दर्द हो गया, तो वह रात्रि-भर बैठी सिर दबाती रही। रामकिशोर के बहुत कहने पर भी उसने विश्राम नहीं किया।

अब दोनो के प्रेम-संसार में उल्लास था, और थी दोनो के जीवन में सुख और शांति।

आठ

अंतर्विरोध

संसार में यौवन भी एक अपूर्व शक्ति है। पुष्पों में यौवन होता है, तो अलि झूम-झूमकर उनके पास आते हैं। सरिता में यौवन होता है, तो वह बड़ी मस्त चाल से इठलाती हुई प्रीतम से मिलने जाती है। आज सुरेश भी यमुना के किनारे अकेला बैठा अपने यौवनावस्था के मनोहर स्वप्नों में रंग भर रहा था। यमुना की कुलबुलाती लहरों के समान ही उसके मस्तिष्क में विचारों का एक ताँता-सा लग रहा था। वह बार-बार सोचता—मुझे उससे स्पष्ट कह देना चाहिए, जिससे जीवन में कोई भ्रम न रहे। स्पष्ट न कहना तो एक प्रकार से अपने आपको धोखा देना है, साथ ही उसके साथ भी अन्याय करना। उसके हृदय में भी स्वतः मेरे लिये स्थान है। वह स्वयं ही मुझसे प्रेम करती है। उसी दिन की घटना लीजिए। रमेश कह रहा था, जब मैच खेलने में मेरे अधिक चोट लग गई थी, और मैं बेहोश हो गया था, तो सर्वप्रथम उसी ने ही फ़ील्ड में आकर मेरी सेवा-शुश्रूषा की। उसी ने अपनी गाड़ी में मुझे घर

पहुँचाया था। भला, इतना अपनत्व का भाव और किसी के हृदय में क्यों जाग्रत् न हुआ। सभी तो थे।... इसी प्रकार वहाँ बैठा वह बड़ी तन्मयता के साथ अपनी कल्पना में भावी आशा-चित्र चित्रित कर रहा था। वह अपने भावों से अपने हृदय की धारणा पूर्णतया पुष्ट करने का प्रयत्न कर रहा था। किंतु फिर भी वह एक अद्भुत द्विविधा सी में बँधा कुछ निश्चय न कर पाता था। चित्त में एक व्याकुलता-सी उत्पन्न होती, जिसे वह समझने में असमर्थ था। परंतु उसे अपनी कल्पना इतनी मधुर प्रतीत हो रही थी कि वह बड़े एकाग्र भाव से यमुना की लहरों में खेलते विद्युत् प्रकाश की ओर देख-देखकर अपने जीवन को उसमें मिलाने का प्रयत्न कर रहा था।

वह उसमें पूर्णतया तन्मय था।

* * *

सुरेश और विमला एक ही कॉलेज में पढ़ते थे। विमला ने बाल्यावस्था की सीमा पार करके यौवन के विकास में पैर रक्खा था। उसके हृदय में बड़ी ऊँची भावनाएँ थीं। मुख-मंडल पर एक अपूर्व ओज झलकता था। मदमाती चाल, हँसमुख चेहरे तथा प्रेममय चितवन ने उसे अपने साथियों में एक विशेष आकर्षण का केंद्र बना दिया था।

कॉलेज में सुरेश का एक निजी स्थान था। वह एक आदर्श

विद्यार्थी समझा जाता था। वह कवि भी था। उसके चेहरे पर सदैव एक गंभीरता-सी झलकती रहती, जिसे वह अपने प्रयत्न से भी नष्ट न होने देता था। अपने सहपाठियों से मिलने पर बहुधा दार्शनिकता की बात करता। उसके सब सहपाठी उसे विशेष आदर और श्रद्धा से देखते थे। इतना ही क्यों, वह अपना आदर्श स्वयं बनाए रखना चाहता था। कभी किसी ने किसी भी कॉलेज-बालिका से विशेष बातें करते न देखा। वह उनकी ओर से बड़ी उपेक्षा के-से भाव से रहता था। सभी उसके आदर्श के क़ायल थे। किंतु उसका अंतर् उसके इस बाह्य का क़ायल न था। यही उसके जीवन में अंतर था, जिसे वह तय नहीं कर पाता था।

प्रतिदिन की भाँति वह आज भी बग़ल में किताब दबाए शीघ्रता से कॉलेज जा रहा था। उधर से विमला भी आ रही थी। सड़क के चौराहे पर दोनो मिले। उसे देखकर सुरेश के हृदय में भावों का एक तुमुल युद्ध-सा हो पड़ा। उसने चाहा, कल के लिए अपने निश्चय को उसे सुना दे—उससे कुछ बात करे, किंतु उसके आदर्श के भाव ने उसे बरबस रोका। वह बिना कुछ बोले ही भाव-पूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखता हुआ आगे बढ़ गया। विमला से बातचीत करने की उसकी अभिलाषा थी, किंतु वह पूर्ण शक्ति लगाने पर भी मुँह न खोल सका। उसका अंतर् भीतर ही मचलकर रह गया।

वह कुछ ही दूर चला होगा कि पीछे से एक आवाज़

आई—"मि० सुरेश, तनिक रुकिएगा, इतनी शीघ्रता का क्या कारण है ?"

सुरेश ने पीछे फिरकर देखा कि विमला यह कह रही है। उसने चाहा, मैं रुकूँ, किंतु वह अपने बाह्य पर विजय न पा सका। वह बड़ी उपेक्षा से चलता गया। कुछ देर पश्चात् विमला ने फिर पुकारा—"आप तनिक रुकिएगा। मुझे आपसे कुछ आवश्यक बातें करनी हैं।"

आख़िर सुरेश रुक गया। विमला पास आ गई। अब दोनो साथ-साथ बातचीत करते हुए आगे बढ़े।

"कविता लिखते समय किन-किन बातों पर ध्यान रखना चाहिए ?" विमला ने बीच में पूछा।

"कविता कोई बंधन की वस्तु नहीं। किंतु हाँ, फिर भी कुछ बातें हैं, जिनका कविता लिखने से पहले होना आवश्यक है। मस्तिष्क में भावों का धुआँ-सा न हो, हृदय सरल हो, तथा कभी किसी बात की असमर्थता का ध्यान कर घबराहट-सी न हो। इतना ही नहीं, वरन् एक विशेष उद्देश्य के साथ चलें। सर्वप्रथम अपने भावों को ज्यों-का-त्यों लिख लें। यह मेरा निजी अनुभव है। कोई यह नियम नहीं।" सुरेश ने बड़ी गंभीरता के साथ उत्तर दिया।

"मैं भी कुछ टूटी-फूटी पंक्तियाँ लिखने लग गई हूँ।" विमला ने मुस्किराते हुए कहा।

"अवश्य लिखनी चाहिए। इसके लिये पूर्ण अध्ययन भी

करना आवश्यक है।" यह कहते हुए वह अपनी कक्षा की ओर चला गया।

घर आते ही उसका हृदय अत्यंत व्याकुल-सा हो उठा। वह अपने विचारों में तन्मय-सा हो गया। कमरे में चुपचाप बैठा सोचने लगा—आखिर मैंने उससे कहा क्यों नहीं? अपनी आदर्शवादिता पर पानी फेरकर मुझे अवश्य ही कह देना चाहिए था। मुझे कुछ ऐसा अनुभव होता है कि मैं जो कहना चाहता था, वह नहीं कह पाया। कुछ और ही कह गया।

यह सोचते-सोचते वह इस पर विचार करने लगता कि वह क्या कहना चाहता था। अपने हृदय की खोज करने पर उसके कोने में विमला के लिये एक कोमल भाव मिलता। और, वह अपने इन्हीं विचारों में निमग्न-सा आराम-कुर्सी पर बैठा रहा।

इतना तो विमला भी अनुभव करती कि सुरेश कुछ कहना चाहता है, किंतु कह नहीं पाता। वह भी कुछ देर उससे बातें करना चाहती थी, किंतु जब बातें करने बैठती, तो कर नहीं पाती थी। उसे ऐसा लगता कि वह जो बातें करना चाहती थी, वह नहीं कर पाई।

वह यह चाहती थी कि उससे पूर्णतया बैठकर बातें कर लें। इसके लिये उसने सुरेश को घर पर दावत के लिये निमंत्रित करने का निश्चय किया। इस निश्चय के साथ ही वह बड़ी

तन्मयता के साथ पुनः सोचने लगी – आज मैं भी उनसे कुछ कहूँगी। न-मालूम क्यों आज मेरा हृदय ऐसा चाहता है। कभी-कभी अनजाने ही क्यों उनके लिये मेरे हृदय में एक गुदगुदी-सी पैदा होती है। उन्हें देखते ही हृदय कहने लगता है कि उनसे बातें करूँ।

यह सोचते-सोचते वह नीले आकाश में बादलों के छोटे-छोटे टुकड़ों की क्रीड़ा बड़े एकाग्र भाव से देखने लगी। अंदर-ही-अंदर वह स्वयं अपने से प्रश्न करती, और स्वतः उसका उत्तर देती।

* * *

सुरेश कमरे में बैठा अपने दो मित्रों से बातें कर रहा था। विषय दार्शनिक था। बीच में एक मित्र ने पूछा—"हमारे मन के अंदर काम-विकार क्यों उत्पन्न होता है? हम एकाएक ही सौंदर्य की ओर क्यों आकर्षित हो जाते हैं?"

"यह हमारे हृदय की कमज़ोरी है। हम भूल जाते हैं कि हम क्या हैं? हमको समझना चाहिए कि हममें ईश्वर का अस्तित्व है। हम ईश्वर के हैं, फिर काम-विकार नहीं हो सकता। प्रत्येक के अंदर उसी सर्वव्यापी की मूर्ति के दर्शन करो। स्वयं अपनी आत्मा के दर्शन करो, क्योंकि तुम उसी के एक अंश हो। फिर तुम्हारे पैर नहीं डगमगाएँगे। रही सौंदर्य की बात, सो हमको विश्वास करना चाहिए कि सांसारिक सब सौंदर्य क्षण-भंगुर है। हमको तो उस अनंत सौंदर्य के दर्शन

प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। इस प्रकार तुम्हारा हृदय चलायमान न होगा।"

सुरेश ने गंभीर दार्शनिक भाव से उत्तर दिया।

वह यह कह ही चुका था कि विमला का नौकर दावत का निमंत्रण-पत्र ले आया। सुरेश ने उसे पढ़ा। दोस्तों ने भी देखा। वह उसे हाथ में लेकर एक द्विविधा-सी में पड़ गया। उसके मस्तिष्क में कई विचार एक साथ चक्कर लगाने लगे। यदि वह उसे स्वीकार करता है, तो उसके मान और आदर्श में बट्टा आता है। उसके दोनो मित्र उसके बाह्य रूप का थोथापन समझ जायँगे। वह अपने सहपाठियों की दृष्टि से गिर जायगा। फिर कोई उसे इतनी श्रद्धा की दृष्टि से न देखेगा। यह कार्य सबके लिये एक विशेष संदेह का कारण होगा। कहाँ वह किसी कॉलेज-बालिका से बातें करना भी अपनी गंभीरता, आदर्शवादिता के प्रतिकूल समझता था। सदैव उनके प्रति एक विशेष उपेक्षा-भाव से रहता। मानो उसके जीवन में वह अन्य विद्यार्थियों की भाँति कोई आकर्षण की वस्तु ही न थी। और, अब निमंत्रण स्वीकार कर लेना! मित्र लोग उसके आध्यात्मिक बल का क्या मूल्य आँकेंगे?

और, यदि अस्वीकार करता है, तो उसका अंतर उसे नोचे खाता है। इससे विमला का हृदय टूटता है। यह उसके अपार दुःख का कारण होगा।

कुछ क्षण तक उसकी समझ में न आया कि वह क्या करे। वह

अप्रतिभ-सा उस नौकर की ओर देखता रहा। उसका अंतर् बार-बार उससे कह रहा था कि ऐसा अवसर फिर न मिलेगा। स्वयं कितने प्रेम से बुलाया है। उसके मस्तिष्क में आदर्श और यथार्थ में एक संघर्ष-सा हो रहा था। किंतु वह उसे समझ न पाता था, और न वह उसका हल ही ढूँढ़ सकता था। आखिर वह संघर्ष से कुछ ऊँचा उठा ही, किंतु उसमें अंतर्विरोध स्पष्ट परिलक्षित होता था। यद्यपि उसका हृदय खिंचा जाता था कि चट से कह दूँ—"हाँ।" परंतु वह कह न पाता था। आखिर-कार मित्रों के सामने अपने पूर्व मान की रक्षा करने के लिये उसने उस पत्र पर लिख ही दिया—"मैं आने में असमर्थ हूँ।"

इसके विपरीत वह कर भी क्या सकता था?

उसे कुछ विश्वास-सा हुआ कि अब ये समझेंगे कि मैं पक्का आदर्शवादी हूँ। थोड़ी देर के लिये उसके मुख-मंडल पर आत्मा-भिमान और विजय का-सा भाव खेलने लगा, किंतु उसे इससे संतोष न हुआ। यह सब तो उसका आत्मभुलावा था। उसे ऐसा अनुभव हुआ, मानो एक बड़े जोर का धक्का लगा हो।

वह अपने दोनो मित्रों से विदा ले अंदर गया, और कटे वृक्ष की भाँति आराम-कुरसी पर गिर पड़ा। उसके नेत्रों से अश्रुओं की अविरल धारा बह निकली। कोई बार-बार उसके कानों में आकर कह जाता—"विमला..."

वह विक्षिप्त-सा कुरसी पर पड़ा रहा, और उसके भीगे नेत्र लग गए।

नौ

भिखारिन

प्रतिदिन की भाँति मैं आज भी घूमने जा रहा था। थोड़ी ही दूर चला होऊँगा कि देखा, सड़क के किनारे एक मकान के सम्मुख बहुत बड़ी भीड़ जमा हो रही है। ऐसे अवसरों पर मेरे मन में भी एक उत्सुकता-सी जाग उठती है कि चलें, देखें, क्या मामला है। बस, मैं भी उस ओर मुड़ गया। वहाँ देखा, दरवाजे पर नौबत बज रही है। अनेकों मनुष्य आ-जा रहे हैं। दो पहरेदार पूरी वर्दी में बंदूक लिए खड़े हैं। चारो ओर पूरी चहल-पहल-सी है। पूछने पर ज्ञात हुआ, यह सब विवाहोत्सव का समारोह है। मैं इसे देखकर लौटने ही वाला था कि मेरी दृष्टि एक अति दुर्बल वृद्धा पर पड़ी, जो दरवाजे के सम्मुख बड़े जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों में पड़ी कराह रही थी। उसकी एक-एक हड्डी समय का परिचय दे रही थी। उसके बाएँ पैर से खून निकल रहा था। उसके पास में ही दो चार कचौरियाँ भी पड़ी थीं। लोग उसे देख-कर हँस रहे थे। अब मैं समझा, क्यों वहाँ भीड़ एकत्र हो रही थी।

अब मुझसे न रहा गया। पास ही खड़े एक सज्जन से पूछा—"कहिए साहब, यह क्या मामला है?"

"कुछ नहीं, मक्कार है। पूरी पत्तल के लिये जिद कर रही है।" उन्होंने बड़ी उपेक्षा के साथ उत्तर दिया।

मैं इस उत्तर से संतुष्ट न हुआ। उनकी यह बात पूर्ण सत्य प्रतीत न हुई। मैं किसी दूसरे से इस घटना की सत्यता के विषय में पूछना चाह ही रहा था कि इतने में सेठजी क्रोध में बड़बड़ाते निकले—"क्यों, अभी नहीं गई। मार खायगी, तब जायगी।"

उस वृद्धा ने असहाय नेत्रों से सेठजी की ओर देखा। फिर बेचारी ने उठने का प्रयत्न किया, किंतु आह करके गिर पड़ी। ऐसा जान पड़ा, उसके पैर में गहरी चोट लगी है। यह देखकर सेठजी आग-बबूला हो गए। बड़े तपाक के साथ कहने लगे—"मक्कारी करती है। पूरी-कचौरी मिल जायँ, तो अभी भागने लग जायगी।"

यह कहते हुए वह भीतर चले गए।

अब मैं कुछ-कुछ इस रहस्य को समझा। मैंने एक दूसरे सज्जन से पूछा। उनसे ज्ञात हुआ, यह बेचारी वृद्धा दरवाजे के सम्मुख खड़ी कुछ देख रही थी कि सेठजी के चपरासी ने इसके बड़े जोर से धक्का मारा। इससे यह गिर पड़ी, और इसके पैर का कूल्हा उतर गया। सेठजी ने समझा, यह कुछ खाने को माँगने आई है। आपने कुछ कचौरियाँ डलवा दीं।

किंतु धन का धक्का सहन करने के लिये ग़रीब में उन कचौरियों से शक्ति कहाँ आ सकती थी ?

इतने में सेठजी पुनः निकले। अब भी उसे वहाँ देखकर उनसे न रहा गया। क्रोध में बड़बड़ाते बोले—"लड़को ! लगाओ तो इसके चपत।"

नादान बालक ग़रीब के दुख को क्या समझें। उसे छेड़ने लगे। यह देखकर सेठजी तथा अन्य लोग प्रसन्न हो रहे थे। सेठजी ने एक विजय के-से भाव से कहा—"बोल, अब भी जायगी या नहीं ? इतनी मार पड़ेगी कि एक भी बाल न रहेगा। हाथ खींचकर वहाँ फिकवा दूँगा।"

वह दुःखित नेत्रों से सेठजी की ओर देखती रही। करती भी क्या ? उसने बड़े करुण शब्दों में कहा—"मुझे तुम्हारा कुछ नहीं चाहिए। मैं थोड़ी देर में अपने आप चली जाऊँगी। और, यदि बहुत जल्दी है, तो मुझे दो आदमियों से घसिटवाकर सड़क पर डलवा दो। वहाँ से थोड़ी देर में अपने घर चली जाऊँगी।"

"कैसी भोली बनती है। घसीटकर फिकवा दें। यहाँ तेरे बाप के नौकर हैं। चल यहाँ से, दूर हट, नहीं तो और मार खायगी।"

अब वृद्धा के नेत्रों से अश्रुओं की अविरल धारा बह निकली। उसने अपने दीन नेत्रों से उस भीड़ की ओर देखा। उन नेत्रों में एक मूक प्रार्थना थी। मेरा हृदय भी समवेदना

से पिघल गया। मैं उसका तात्पर्य समझ गया। मैं उसे अपने हाथ का सहारा देकर सड़क तक पहुँचाने को तैयार हुआ। मुझे देख एक मुस्लिम युवक भी तैयार हो गया। हम दोनो ने उसे सड़क तक घसीटकर डाल दिया। पीछे बराबर नौबतें बज रही थीं। बंदूकें छूट रही थीं...किसी को इसका क्या ध्यान ?

मैंने फिर कहा—"कहो, तो मैं खाने को ला दूँ ?"

"नहीं, मैं भिखारिन नहीं हूँ। मैं भीख माँगने नहीं आई थी। मुझे किसी की जरूरत नहीं।"

"खैर, तुम्हारे धर्मवाले ने ही मारा है।" यह कहकर वह युवक तो चला गया।

मेरा हृदय उसके नेत्रों की भाँति पूर्ण करुणा से भरा हुआ था। मैंने पूछा—"कहो, तो ताँगे में तुम्हारे घर पहुँचा दूँ ?"

उसने भाव-पूर्ण नेत्रों से मेरी ओर देखा, और कहा—"हाँ, बड़ी कृपा होगी।"

मैंने एक ताँगा किया, और उसमें उसे डाल उसके घर की ओर चला। मेरे हृदय में रह-रहकर उसका परिचय प्राप्त करने का भाव उठ रहा था। उस वृद्धा के जीवन का मूल्य केवल चार कचौरी था। यह समस्या भी मुझे विकल किए थी। यह है पूँजी का दिया हुआ बड़प्पन !

आखिर मार्ग में मैंने उससे पूछा—"यदि तुम भीख माँगने नहीं गई थीं, तो वहाँ क्यों गई थीं ? क्या बता सकती

हो ? मेरे हृदय में आपका परिचय प्राप्त करने की बड़ी लालसा-सी जाग्रत् हो उठी है।"

"बेटा, क्या बताऊँ, मैं वहाँ क्यों गई थी। मेरी दुःख की कहानी बहुत लंबी है। पूछकर क्या करोगे। सुनकर तुम्हें और दुःख होगा।"

"नहीं, बताओ भी तो।"

"यदि यही चाहते हो, तो सुनो। मैं एक हिंदू-बाल-विधवा हूँ। मुझे नहीं मालूम था कि विवाह क्या होता है, उस समय मेरा पाणिग्रहण कर दिया गया। अकस्मात् हैजे के प्रकोप में उनका देहांत हो गया। मुझे भी संसार ने बताया कि मेरा सर्वस्व लुट गया है। मेरे एक देवर थे, उनकी युवावस्था थी। इधर मैं भी यौवन के विकास पर थी। मेरा और उनका प्रेम हो गया। मेरा वह अभाव उस प्रेम में समा गया। कैसा मनोरम स्वप्न-संसार था। भावी जीवन की कैसी सुखमय आशाएँ थीं। जीवन कितना प्यारा लगता था, बाबू साहब! किंतु विधना की गति......!"

यह कहते-कहते उसका गला भर आया। नेत्रों से आँसू की बूँदें गिरने लगीं। ऐसा जान पड़ा, मानो किसी ने उसका गला बंद कर दिया हो।

मैंने कहा—"हाँ, फिर आगे क्या हुआ माताजी!"

"बेटा, होता भी क्या! प्रेम के फल-स्वरूप मेरे उनसे गर्भ

रह गया। जब यह बात मैंने उनसे कही, तो वह घबराए। उन्होंने उस जीव की हत्या करने की सलाह दी। किंतु मेरा मातृहृदय इसके लिये तैयार न हुआ। मैं समाज की कठोरता और अत्याचार के मुक़ाबिले में भी उसकी प्राण-रक्षा करना चाहती थी। यह उन्हें बुरा लगा। उन्होंने अपनी पाप-कालिमा धोने के लिये मुझे लांछन लगाकर एक दिन बुरी तरह घर से निकाल दिया।"

वह कुछ देर के लिये रुक गई। इतने में मैंने कहा—"तो तुम किसी विधवाश्रम में क्यों न चली गईं?"

"ठहरो बेटा, सब कुछ सुनाती हूँ। हाँ, तो मैं एक विधवा-श्रम में भी गई, किंतु मैंने देखा, वहाँ के मैनेजर की नीयत में पाप है। मैं वहाँ न रह सकी। एक पाप का बोझ तो मेरे पास था। दूसरा... ख़ैर...

"अरे! मैं यह कहना तो भूल गई कि वहाँ मेरी पुष्पा का जन्म हुआ, जिसके लिये आज मैं......।"

यह कहते-कहते वह फूट-फूटकर रोने लगी।

न-मालूम किस पूर्व-स्मृति ने उसका हृदय दबा लिया। कुछ क्षण बाद वह फिर बोली—"बेटा! उसे मैंने बड़े परिश्रम से पाला, परंतु वह आज मुझसे बिछुड़ गई है। मैं उसकी खोज में पागल हुई घूमती हूँ, परंतु कोई पता न लगा। उसके मिलने की आशा में ही मैं अब तक अपने प्राणों की रक्षा किए थी, वरना जीवन से तो ऊब चुकी हूँ। आह!

आज उसी की आशा में मैं वहाँ गई थी। घूर-घूरकर पुष्पा को देख रही थी। सोचती भी जाती थी कि एक दिन उसका भी ऐसा समारोह होता कि धक्का लगा।"

वह दुख से कराह उठी, जैसे उसकी चोट हरी हो गई हो—नेत्रों में अश्रु भरे उसने फिर कहा—"बेटा! आज के व्यवहार से मेरी सब आशाएँ टूट गईं। मैं आज जान पाई कि संसार में हिंदू-विधवा ही इतनी तिरस्कृत नहीं, वरन् बेचारे ग़रीब भी आज उतनी ही घृणा से देखे जाते हैं। उनका भी निजी कोई अस्तित्व नहीं—धन ने मानव-समाज में इतना अंतर कर दिया है। आह! कितना पाशविक व्यवहार, पूँजीपतियों की दुनिया में मानवता का यह स्थान! मेरा वहाँ खड़ा रहना भी बुरा लगा। ये लोग दया का भी मूल्य नहीं आँक सकते...?" यह कहते-कहते वह रोने लगी।

अब उसका घर भी आ गया। मैंने ताँगा ठहराकर उसे घर में पहुचा दिया, और मैं हृदय में एक बोझ-सा लिए चला आया।

❀ ❀ ❀

दूसरे दिन सबेरे सुना गया कि यमुना में एक ग़रीब वृद्धा की लाश मिली है। यह वही भिखारिन थी, जो जीवन का भार सँभालने में अब असमर्थ थी।

('सुदर्शन' में प्रकाशित)

दस

हृदय के आँसू

मैं पाँच मील के अंतर पर भी बैठा अपने उद्विग्न मन को शांत नहीं कर पाता था। किसी के जीवन की उपेक्षा रह-रहकर मुझे विकल बना रही थी। मुझे यह अंतर और भी निकट खींच लाने की प्रेरणा कर रहा था। मैं अपने विचारों में बँधा-सा अपने को संतुष्ट करने का प्रयत्न कर रहा था। आखिर जब हम किसी के जीवन का उत्तरदायित्व नहीं सँभाल सकते, तो उसके लिये इतने मोह की क्या आवश्यकता ? फिर वह अभी नन्ही-सी बच्ची है। सृष्टि के ऊपर उसने अपना कोई भार ही क्या डाला है ? यदि मर जाय, तो क्या हानि ? मैं अपने बाह्य रूप की रक्षा कर सकूँगा। भाभी को तो समाज की कठोर दृष्टि से बचा सकूँगा। ओह ! यह किसी को कैसे विश्वास आएगा कि मेरा और उनका प्रेम बिलकुल निर्मल है। वह बालिका मेरी न होकर बड़े भाई की ही है। समाज इतना उदार कहाँ हो सकता है। भाभी ! ओ माता के समान भाभी ! मैं तुम्हें कलंक से बचाना चाहता हूँ, साथ ही उस निर्बोध बालिका को भी। ओह ! कैसे थे वे भोले नेत्र !

मैं किं-कर्तव्य-विमूढ़-सा दोनो हाथों से अपना सिर दबाए बैठा रहा। मुझे अपने किसी तर्क से शांति न मिलती थी। हृदय बार-बार पुकार उठता—यदि जीव-रक्षा न कर सके, तो पैदा करने की क्या आवश्यकता...? मैं किसी प्रकार इस द्विविधा से पार नहीं हो पाता था। मैं कुरसी से उठकर कमरे में इधर-उधर घूमने लगा। घूमते-घूमते सोचता जाता, वह कितनी सुंदर बालिका थी, किंतु अभागी। जब मैं उसे वहाँ छोड़कर चला, तो वह अपने मूक नेत्रों से मेरी ओर देख रही थी, मानो अपनी प्राण-रक्षा की भीख माँग रही हो... भाभी की निराश आँखों में उसका वात्सल्य प्रेम भीतर-ही-भीतर सिसक रहा था। वह अपने नवजात शिशु को प्रेम-पूवक छाती से भी नहीं लगा सकती थी। कैसी विडंबना है—दुनिया बच्चे का मुँह देखने के लिये कितनी साधना करती है, किंतु भाभी की साधना आज समाज की वेदी पर बलि दी जाने को थी। मैं पुनः कुरसी पर आकर बैठ गया। पास ही अख़बार पड़ा था, उसे उठाकर पढ़ने का प्रयत्न करने लगा, किंतु सब निष्फल। फिर सोचने लगा—भाभी ने भी ग़लती की। उन्हें भाई के मरने के बाद ही यह रहस्य खोल देना चाहिए था। यदि वह ऐसा कर देतीं, तो आज यह समस्या तो उपस्थित न होती। आख़िर वह इसे अब तक छिपाए क्यों रहीं ? क्या उन्हें मालूम न था। मैं एक अद्भुत विपत्ति में पड़ा हूँ, समझ में नहीं आता, क्या करूँ। यदि बालिका की प्राण-

रक्षा करता हूँ, तो भाभी के सिर पर कलंक का टीका लगता है, और यह निश्चय है कि वह इस कलंक का भार न सँभाल सकेंगी, और समाज की वेदी पर अपने प्राणों की बलि दे देंगी। दूसरी ओर यदि भाभी को कलंक से बचाना चाहता हूँ, तो उस भोली बालिका की आहुति देनी पड़ती है। नहीं, नहीं, मैं यह हत्या तो न होने दूँगा। यह मानवता की माँग है। इसके लिये मैं स्वयं अपना उत्सर्ग करूँगा। समाज के लिये अपनी आहुति दूँगा।...दोनो की रक्षा करूँगा, चाहे कुछ भी हो।

यह सोचते-सोचते मेरा हृदय कुछ क्षण के लिये शांत हुआ। एक विजय के-से भाव से आह्लादित मैं उसी रात्रि में अपने कपड़े सँभालने लगा। मेरे हृदय में यह विचार पक्का हो गया कि यदि वह बालिका पैदा ही न होती, तो कोई बात न थी, किंतु अब उसकी रक्षा करना आवश्यक है। जब वह आई है, तो जीवित रहे, उसे जीवित रहने का पूर्ण अधिकार है। मेरे इस निष्कर्ष पर पहुँचने में भोली बालिका के वे नेत्र मौजूद थे।..उनमें एक शक्ति थी, जिसने मुझे इस निश्चय पर पहुँचने के लिये विवश किया। मैं उस प्रेरणा की अवहेलना न कर सका। उधर भाभी के कलंक की आशंका भी मेरे नेत्रों के सम्मुख नाच रही थी। वह भी मुझे बरबस अपनी ओर खींच रही थी।

❀   ❀   ❀

मैंने अपनी गाड़ी उठाई, और रात्रि के सन्नाटे में ही पाँच मील का अंतर पुनः तय किया। मुझे मार्ग की कठिनाई कुछ भी अनुभव न हुई। एक भावी अनिष्ट की आशंका ने मेरी गति और भी तीव्र कर दी थी। गाँव में सब सो रहे थे। चुपके से अपने घर की ओर गया। घर के द्वार पर खड़े होकर देखा, तो अभी दीपक जल रहा था, ज्यों-का-त्यों—अपने जीवन की अंतिम ज्योति के साथ। मैंने बड़े धीरे से पुकारा—"भाभी...!"

भाभी अभी जग रही थीं। उठकर बोलीं—"छोटे भैया, तुम यहाँ कहाँ ? अभी-अभी तो तुम गए थे, फिर क्यों लौट. आए ?"

वह अपनी पूरी बात भी न कह पाई थीं कि मैंने कहा—"वह बच्ची कहाँ है ?"

"भैया, वह उस खाट पर पड़ी अपने जीवन के क्षण पूरे कर रही है। हृदय के मोह ने उसकी जीवन-लीला समाप्त करने से रोक रक्खा है। हाय ! मैं......"

"विकल न हो, अब उसे तुमसे कोई नहीं छीन सकेगा। जिस समाज में मानवता का आदर नहीं, उसके बंधन को मानना भी एक पाप है। भाभी ! मैं ऐसे समाज की परवा न करूँगा। मैं उस बालिका की प्राण-रक्षा करूँगा। इसी के लिये तो दुबारा आने का परिश्रम किया है। अच्छा हुआ, ठीक समय पर आ सका। इस थोथे सांसारिक कलंक के

भय से मैं अपनी आत्मा की प्रेरणा की उपेक्षा नहीं कर सकता।"

"मुझ पर तो कलंक आएगा। लोग कहेंगे, व्यभिचारिणी है। कोई भी सच बात का विश्वास न करेगा। समाज मुझे जावित......" यह कहकर वह रोने लगीं।

"इसकी कोई चिंता न करो। हृदय की पवित्रता सबसे बड़ी चीज़ है। दु नया को दिखाने से क्या होता है। और लोग क्या कहेंगे। उन्होंने कभी सत्यता का आदर किया भी है? भाभी! इसके लिये मैं अपनी बलि देने को तैयार हूँ। तुम दोनो की रक्षा का भार मैं अपने ऊपर लूँगा।"

"समाज यह भी न सह सकेगा। उसे तुम्हारे कृत्य में भी संदेह मालूम होगा।" भाभी ने उदास भाव से उत्तर दिया।

"फिर वही समाज। मैं कहता हूँ, मैं समाज की कुछ भी चिंता नहीं करता। मैं ऐसे समाज को तिलांजलि देने को तैयार हूँ। चलो, मैं इसी रात्रि में तुम्हें वहाँ ले चलना चाहता हूँ, जहाँ अपना कोई न हो। शीघ्रता करो, समय कम है।'

भाभी ने बहुत कुछ सोच-विचार के बाद अपनी अनुमति दे दी। मैंने शीघ्रता से कुछ आवश्यक सामान उठाया, और भाभी को गाड़ी में लिटाकर अँधेरे में ही गाँव से बाहर हो गया।

❀ ❀ ❀

कहते हैं, पीछे से गाँव में पंचायत हुई थी, जिसमें मुझे और भाभी को व्यभिचार का दोषी ठहराया गया, और हमें जाति से बहिष्कृत कर दिया गया। ख़ैर, कुछ भी हो, किंतु मैं यह नहीं समझ पाता कि भाभी बार-बार मुझे विवाह करने के लिये क्यों प्रेरित करती हैं। जब मेरा अंतर न-मालूम क्यों इसका निरंतर विरोध करता रहता है।

ग्यारह

विशाखा

"बेटी विशाखा ! ले, संतरा ले।" यह कहते हुए सेठ मनोहरलाल ने दो संतरे उसके सामने रख दिए। विशाखा ने एक उपेक्षा के-से भाव से दोनो संतरे उठा लिए, और आलमारी में रख आई। वह ताऊजी के पास आकर खड़ी हो गई। सेठजी बड़े प्रेम से उसके बालों पर हाथ फेरते हुए बोले—"बेटी, बड़ी दुर्बल होती जाती है। मैं देखता हूँ, न हँसती है, न खेलती है। देख, यहाँ शहर में बहुत-सी देखने की चीजें हैं, शाम को गाड़ी लेकर मुन्नू को भेज दूँगा, वह दिखा लाएगा। तू ऐसी अन्यमनस्क-सी क्यों रहती है ?"

"रोने से फ़ुरसत मिले तब न ! जब तक घर में भाई रहता है, तब तक तो ठीक रहती है। उसके कहीं जाने पर दिन-भर रोते-रोते घर भर देती है।"

ताईजी ने चौके में थाली परोसते हुए कहा।

"रोया क्यों करती है ? क्या यहाँ मन नहीं लगता ?"

सेठजी ने अपनी पत्नी की ओर संकेत करते हुए पूछा।

"मुझसे क्या पूछते हो। अपनी लाड़ली बेटी से ही पूछो।

किसी को बताए तब न" ताईजी ने एक व्यंग्य में उत्तर दिया।

विशाखा यह सब सुन रही थी। उसे भय लगा कि कहीं ताऊजी उससे भी यह प्रश्न न कर बैठें। उसने हृदय का भाव छिपाते हुए बात बदलने के आशय से कहा—"ताऊजी......" और, वह आगे न कह सकी।

"कहो भी, क्या बात है ?"

"कुछ नहीं, अब हम गाँव जायँगे। मा की बहुत याद आती है।"

"क्या यहाँ मन नहीं लगता। क्यों ?"

"नहीं, मन क्यों नहीं लगता, यों ही।"

"तो तेरी मा को यहीं बुला देंगे।"

विशाखा ने इसका कुछ भी उत्तर न दिया। वह शांत खड़ी रही। सेठजी खाना खाने के लिये अंदर चले गए।

❀ ❀ ❀

विशाखा प्रकृति की स्वच्छ गोद में पली थी। उसे शहर का संकुचित वातावरण अच्छा नहीं लगता। इस पर भी ताई के व्यंग्य उसके जीवन को और भी नीरस बना देते। ताई के हृदय में उसे अपने प्रेम की उपेक्षा मिलती, जिससे उसे वहाँ रहना और भी घिरा-घिरा-सा लगता। सेठ मनोहरलाल के कोई संतान न थी। वह उसे विशेष प्रेम करते। यद्यपि विशाखा के साथ उसका भाई भी रहता था,

किंतु उसे ताऊजी के यहाँ शहर में रहना अच्छा नहीं लगता था। वह अपने भाई से केवल 'गाँव जायँगे' कहती, और शर्म के मारे ताई के व्यवहार के विषय में कुछ न कहती। परंतु भाई उसकी अंतर्व्यथा न समझ पाता। वह अपने को शहरी जीवन में भुला चुका था। शहर में रहकर ही उसने दसवीं कक्षा पास की थी। भला, गाँव में घूमने के लिये पार्क और मनोरंजन के लिये सिनेमा कहाँ मिलते? वहाँ उसे इतना आराम कहाँ मिलता? वह शहर छोड़कर गाँव जाना नहीं चाहता था। इसलिये विशाखा की बात पर कुछ भी ध्यान नहीं देता। उसे फटकार देता था। ताऊजी के यहाँ जीवन के सुख के सब सामान उपस्थित थे, परंतु उनमें एक को आनंद अनुभव होता, तो दूसरे को अपना जीवन रूखा-रूखा लगता। इसके फल-स्वरूप विशाखा की अंतर्व्यथा नेत्रों द्वारा पानी बनकर बह जाती। करती भी क्या? बेचारी के पास और क्या साधन था?

आज भी जब भाई खाना खाने आया, तो उसने कहा— "भाई साहब! हम गाँव चलेंगे।"

"क्यों, ऐसी क्या जल्दी है?" भाई ने उत्तर दिया।

"यों ही।"

"तुम तो बड़ी पगली हो विशाखा! देख, कुछ ऊँच-नीच का भी ध्यान रखना चाहिए। ताऊ क्या कहेंगे कि वह कितने

प्रेम से तो हमको रखते हैं, फिर भी हम यहाँ से उनकी बिना आज्ञा के चले जायँ। मुझे तो यह अच्छा नहीं लगता।"

"तुम्हें अच्छा नहीं लगता, तो क्या। मुझे यहाँ रहना अच्छा नहीं लगता। तुम मुझे हमेशा इस प्रकार ही समझा दिया करते हो। तुम्हें क्या पता? तुम तो दूकान पर चले जाते हो। पीछे मुझे तो यहाँ जीवन बोझ-सा लगता है।" विशाखा ने बड़े दीन भाव से कहा।

"पीछे क्या कोई तुम्हें मारता है? व्यर्थ की-सी बातें...... आज माताजी बुलाई गई हैं। वह भी आ जायँगी।" यह कहते हुए वह दूकान पर चला गया। उधर विशाखा के हृदय का बाँध टूट गया। वह कमरे में मुँह छिपाकर रोने लगी।

ताई दालान में कुछ स्त्रियों से बात कर रही थीं। उन्होंने जब रोने की ध्वनि सुनी, तो आग-बबूला हो गईं। उन्होंने झिड़ककर कहा—"विशाखा, क्यों रो रही है? क्या तुझे शर्म नहीं आती? सयानी लड़की, और किस तरह चरित्र रचती है। हमारे क्या अपने वहाँ जन्म में थुकाएगी। सासरे में कोई बात भी न पूछेगा। भला, मा-बाप का नाम ऊँचा करेगी।" विशाखा यह सब लोहू का-सा घूँट पीती रही, किंतु उसके आँसू बंद न हुए।

"क्या बात है?" एक स्त्री ने पूछा।

"कुछ नहीं, अच्छा-अच्छा खाने को मिलता है, चारो तरफ़ से ख़ुशामद की जाती है, इसलिये दिमाग़ ऊँचे चढ़

गए हैं। मैं तो इस आफ़त को गाँव भेजने को कहती हूँ, किंतु वह नहीं मानते।" ताई ने बड़े तपाक से उत्तर दिया।

ताईजी ये बातें इस प्रकार कह रही थीं, मानो उससे बहुत प्रेम करती हों। वह इस समय यह भूल गई थीं कि जब वे उसे दूध देतीं, तो सब मलाई अपने में डालकर खाली दूध दे देती थीं। यदि खाने को देतीं, तो रूखी-सूखी-सी रोटियाँ देती थीं। यदि प्रातःकाल ठंडाई देतीं, तो दो गिलास पहले निकालकर, तब पानी मिलाकर उस बेचारी को देतीं। इतना ही क्यों, जब कोई अच्छा साग बनता, तो कहतीं, यह साग इसे अच्छा नहीं लगता, थोड़ा देना। इस प्रकार या तो वह थाली में रखतीं ही नहीं, और रखतीं भी, तो बहुत थोड़ा-सा। यह विशाखा को बहुत अखरता। ताई के इस व्यवहार से उस बेचारी के आत्मभिमान को बड़ी चोट लगती। उसे ऐसा लगता, मानो कोई उसकी आत्मा को कुचल रहा हो। इस निरादर और उपेक्षा को देखकर उसके हृदय में एक भीषण ज्वाला जलती रहती। वह इसे शांत करने को रो उठती। किंतु करती भी क्या, निरुपाय थी। और तो और, ताऊजी जो सब्ज़ी देते, उसे स्वयं ताई ले लेतीं, और एक-दो फाँक देकर उसके असंतोष को और बढ़ा देतीं। ताई के इस व्यवहार का रूखापन आज नेत्रों के द्वारा बाहर निकल रहा था। निर्जीव शब्द उसे क्या रोकते .....?

ताई यह कह चुकी ही थीं कि नौकर ने आकर कहा—

"छोटी सेठानीजी आ गईं। अब क्या था। विशाखा ने भी यह सुना। उसके मुख पर भी हँसी छा गई। वह भी (भागी-भागी) नीचे गई, और अपनी माता से लिपट गई। ताईजी ने अच्छी आव-भगत की।

"क्या कर रही थीं।" विशाखा की मा ने पूछा।

"कुछ नहीं, लल्ली के लिये खरबूजा बना रही थी। संतरा तो वह खाती नहीं; देखिए, ज्यों-के-त्यों रक्खे हैं।"

यह कहते-कहते वह संतरा निकालने चली गईं। विशाखा के नेत्र मा की ओर लग रहे थे। वह अपनी मूक भाषा में कह रहे थे, यह सब ढकोसला है।

इसी समय ताई संतरा ले आईं। सब मिलकर संतरा खाने लगीं। बीच में हँसती हुई विशाखा ने कहा—"मा, अब तो नहर में पानी आ गया होगा? देख, हरभेजी, श्यामो, सब नहाने जाती होंगी। कहो, वे सब अच्छी हैं?"

"हाँ, बेटी, सब अच्छी हैं। सब तुझे नमस्ते कहती हैं।" मा ने बड़े प्रेम से कहा।

"अरी मा! अब तो खूब पीलू पक गए होंगे? हाँ, टेटी भी ढेरों लग गई होंगी? सब खूब तोड़ने जाती होंगी? हमने तो उसी दिन से एक भी पीलू नहीं खाया।"

ताई ये सब बातें हक्का-बक्का-सी होकर सुन रही थीं।

"मा ! मैं तो गाँव में ही अच्छी थी।" विशाखा ने एक विषाद-भाव से कहा।

"यहाँ क्या ताई कोई बुरे थोड़े ही रखती होंगी ? तेरे लिये मरी तो जाती हैं।"

"बहन, मैं तो इसे न-मालूम क्या दुख देती हूँ; जो दिन-भर रोती रहती है।" ताईजी ने उदास भाव से कहा।

"रोती क्यों रहती है ?"

"पता नहीं, तुम्हीं पूछ देखो।"

"पूछूं क्या, बेवक़ूफ़ लड़की है। यह तो मुझे पहले ही आशंका थी कि यह वहाँ भी नाच नचाएगी।"

विशाखा सुनती रही। उसने पूछा—"मा, कब जाओगी ?"

"आज ही जाऊँगी......क्यों ?"

"मुझे ले चलोगी न ?"

"यहाँ क्या काँटे हैं ? मैं तुझे लेने थोड़े ही आई हूँ। मैं तो केवल तुझसे मिलने आई हूँ। यहाँ क्या दुख है ? कुछ दिन और रह। भाई तो तेरे साथ है ही।"

"न, हम तो चलेंगे।" यह कहकर वह रोने लगी।

मा को इस पर क्रोध आ गया। उन्होंने कहा—"चल हट, तुझे शर्म नहीं आती, जो इतनी बड़ी होकर सबको तंग करती है। तेरे चौदह वर्ष क्या यों ही धूल में गए ?" यह कहकर वह चली गईं। अब इस चारो ओर की उपेक्षा से

उसका हृदय भर आया। उसे अपने आँसुओं पर विश्वास न रहा। उसकी हार्दिक पीड़ा उसके अंदर ही रह-रहकर उसे विकल करने लगी।

❀ ❀ ❀

प्रतिदिन की भाँति दूसरे दिन प्रातः उठते ही ताऊजी ने बड़े प्रेम से उसे पुकारा—"विशाखा !" किंतु कोई उत्तर नहीं मिला। घर-भर में उसे ढूँढ़ा गया, किंतु कुछ भी पता न लगा। ताऊजी का हृदय आशंका से काँप उठा। उन्होंने पूर्ण रूप से खोज-खबर करनी आरंभ की। गाँव भी खबर भेज दी। वहाँ यह सुनकर सब असमंजस में पड़ गए। अंत में बहुत परिश्रम के बाद शाम के वक़्त नहर में उसकी लाश मिली।

माता, भाई, सब अपने किए पर पछता रहे थे। घर करुण पुकारों से गूँज उठा। ताऊ और ताई ने भी बहुत शोक किया। लाश को देखने से पता लगा कि अब भी उसके नेत्रों में दो आँसू झलक रहे थे।

बारह

मुक्ति-यज्ञ

(सन् ३०-३१ के स्वाधीनता-संग्राम पर एक दृष्टिकोण)

रात्रि के शांत वातावरण में संसार एक सन्नाटे में सो रहा था। नभ-मंडल में बादल छाए हुए थे। अंधकार ने पृथ्वी को पूर्ण रूप से ढक लिया था। ऐसे समय में निस्तब्धता को चीरती हुई एक आवाज आई—'धायँ......' और असीम में विलीन हो गई।

विजय इस आकस्मिक ध्वनि को सुनकर, हड़बड़ाकर उठ पड़ा। उसका हृदय भय और आशंका से काँप उठा। वह उस भीषण ध्वनि को लक्ष्य करते हुए अपने पिता की कोठरी की ओर गया। वहाँ जाकर उसने क्या देखा ? पिस्तौल की गोली से निर्दयता-पूर्वक बिंधे हुए पिता और उनके वक्षःस्थल से निकलती हुई रक्त की एक अविरल धारा।

वह इस दृश्य को देखकर सुन्न रह गया। उसके हाथ-पैर ठंडे पड़ गए, और निर्निमेष नेत्रों से कुछ क्षण के लिये पिता की लाश की ओर देखता रहा। हृदय में कुछ साहस कर

लाश तक गया। अभी उसके पिता सिसक रहे थे। नेत्र खुले हुए थे, किंतु कुछ बोलने की सामर्थ्य न थी।

विजय के मुँह से दबे हुए शब्दों में निकला—"पिता... जी!" वृद्ध ने उँगली से कुछ संकेत किया। विजय पास गया। वृद्ध ने उसकी ओर शून्य नेत्रों से देखा, और उन्हें सदा के लिये बंद कर लिया। विजय किं-कर्तव्य-विमूढ़-सा यह सब देखता रहा।

अब उसके नेत्रों से अश्रुओं की एक अविरल धारा बह निकली। उसे विश्वास हो गया कि यह सब उसी सार्जेंट की करतूत है। वह अपने को न सँभाल सका, और मूर्च्छित होकर पिता की लाश पर गिर पड़ा।

कुछ देर पश्चात् घर करुण पुकारों से गूँज उठा!

❀ ❀ ❀

प्रातःकाल विजय अपने पिता की दाह-क्रिया करके लौटा भी न था कि दो तीन सिपाहियों ने आकर, करुण विलाप करती हुई उसकी मा और छोटी बहन से डाटकर कहा—"बताओ, विजय कहाँ हैं? आप लोग इस मकान से निकल जाओ। कल सरकारी आज्ञा भंग करने और बिना क़ानून के झंडा हाथ में लेकर 'भारत-माता' की जय बोलने के अपराध में तुम्हारी सब जायदाद ज़ब्त कर ली गई।"

गोरे सिपाही की इस बात को सुनकर भोली कुसुम से न रहा गया। उसने हृदय में कुछ साहस बाँधकर, आँसू पोंछते

हुए उत्तर दिया—"हम इस घर से क्यों निकल जायँ ? यह घर हमारा है। हमने अपराध ही क्या किया है ? हम अपनी राज़ी से अपना मकान नहीं छोड़ सकतीं।"

"नहीं छोड़ सकतीं, कैसा रोब दिखाती है, मानो सब घर का ही राज्य है। सरकार की आज्ञा भंग करना मामूली बात समझ ली है।" यह कहते हुए उनमें से एक सिपाही ने उस निर्बोध बालिका को ऐसे ज़ोर से धक्का दिया कि बेचारी बुरी तरह से पृथ्वी पर गिर पड़ी। उसके सिर में चोट आ गई, और सिर से ख़ून बहने लगा। माता अपनी भोली बेटी की यह दशा न देख सकी। उसने दौड़कर कुसुम के घाव को हाथ से दबा लिया। उसका चेहरा तमतमा उठा। नेत्रों में देश-प्रेम की ज्योति झलक रही थी। उसने कहा—"क्या अत्याचार और दमन से यह स्वतंत्रता की आग शांत हो जायगी ? तुम्हारा यह समझना मूर्खता है। इससे तो यह और प्रज्वलित होती है। जितनी बलि इस स्वाधीनता की यज्ञ में दी जायगी, उतनी यह और निकट आती जायगी। स्वतंत्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। झंडा हमारे लिये उसका प्रतीक है। हम आपकी यह आज्ञा नहीं मान सकते।"

भला, वे सिपाही, जिन्होंने अपने जीवन में सिवा बर्बरता के कुछ और नहीं सीखा था, यह कैसे सहन कर सकते थे। उनमें से एक ने कड़ककर कहा—"अच्छा, तुम इस

तरह न मानोगी। 'लातों का देव क्या बातों से मानता है?'" यह कहते-कहते उस दुष्ट ने ऐसे जोरों से उसके सिर में लाठी जमा दी कि वह बेचारी मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी। भला, एक स्त्री पाशविक बल के प्रहार को सँभालने में कहाँ समर्थ हो सकती थी?

सिपाही एक-एक करके सब सामान घर में से ढोने लगे। कुसुम की मूर्च्छा जगी। वह काँपती-सी सिपाही के सामने खड़ी होकर, उन्हें सामान ले जाने से रोकने लगी। सिपाही को ग़ुस्सा आ गया। अब क्या था, लाठियों की बौछार शुरू हो गई।

इस समय विजय भी पिता की दाह-क्रिया कर बड़े दीन-भाव से घर लौट रहा था कि उसने दूर से इन नर-पिशाचों का यह कांड देखा। वह एकदम भागकर वहाँ आया, और हकबकाया-सा कुसुम के ऊपर गिर पड़ा। लाठियों की बौछार जारी रही, यहाँ तक कि दोनो बिलकुल मूर्च्छित हो गए।

सिपाहियों ने तीनो को खींचकर बाहर डाल दिया, और वे घर में ताला लगाकर वापस लौट गए।

❀ ❀ ❀

विजय आज संसार में अकेला था। केवल वह था, और उसका अटूट देश-प्रेम। वह इसके लिये तीन बलि दे चुका था। न अब उसका कोई घर था, न अब उसके पिता थे, और न आज उसकी माता थी, न बहन। सब एक-एक करके

स्वाधीनता के संग्राम में अपनी बलि दे चुके थे, किंतु इस सबके कारण विजय अपना उद्देश्य नहीं भूला था। उसे अपना जीवन एक बोझ-सा प्रतीत नहीं हुआ था। उसके हृदय में केवल एक आग जल रही थी। वह थी देश को परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त करना। इसके लिये उसने इसको सहर्ष झेला था। वह सच्चा वीर था। वह एक क्रांति करना चाहता था—वह क्रांति, जो अत्याचार और दमन को ठंडा करके अपने में पचा सके। आज भी वह राष्ट्रीय झंडा हाथ में लिए हुए देवपुर गया। देवपुर में प्रवेश करते ही पुलिस के सिपाहियों ने उसे रोका, किंतु वह कब डरनेवाला था। उसने कहा—"भारत-माता की जय" और उनकी अनसुनी कर आगे बढ़ा। उसे तो आज अवश्य ही देवपुर में एक सभा करनी थी। वह वचन दे चुका था।

सिपाही ने उसे पीछे खींच लिया, और तमककर कहा—"झंडा हाथ से छोड़ दो, इसी में तुम्हारा भला है। वहाँ मत जाओ।"

"क्यों?" उसने सीधे भाव से पूछा।

उसका 'क्यों' कहना था कि सिपाही ने डंडा-प्रहार करते हुए कहा—"इसलिये..." किंतु वह चलता ही गया। एक... दो...तीन...निरंतर उस पर डंडे पड़ने लगे। अंत में वह गिर पड़ा। किंतु डंडे बराबर पड़ते रहे। लेकिन झंडा हाथ में ही लगा हुआ था। मौक़े पर सार्जेंट भी आ गया। उसने

क्रोध में कहा—"लगाओ जमकर दो हाथ, और झंडा छीन लो।" डंडों की बौछारों का वेग बढ़ा। विजय के हाथ शिथिल हो गए। उसे मूर्च्छा आ गई, और सिपाही झंडा छीन ले गए। वह वहीं पड़ा रहा।

जब वह होश में आया, तो उसने अपने को कारागृह की कोठरी में पाया!

* * *

कहते हैं, तीन दिन पश्चात् उसकी वहीं, कारागृह में ही, मृत्यु हो गई!

यह उसकी अंतिम आहुति थी।

('सुदर्शन' में प्रकाशित)

तेरह

बेगार

रामसिंह जाति का चमार था। वह हृदय का बड़ा साफ़ और नेक था। किसी का एक पैसा भी ऋण बक़ाया रखना उसके लिये असह्य था। वह कहा करता था कि यदि हम किसी का इस जन्म में ऋण न चुकाएँगे, तो उस जन्म में हमें बैल बनकर चुकाना पड़ेगा। यह भोली भावना उसे सदैव ईमानदारी की ओर प्रेरित किए रखती।

'संतोष' उसके जीवन की अमूल्य निधि थी। ऐसा नहीं कि मनुष्य स्वभावतः ही संतोषी होता है। किंतु अधिकांश में परिस्थितियाँ भी उसे इस गुण से युक्त बना देती हैं। सेठजी के घोड़े के लिये दो बोझ घास ले आना, अपने खेत का काम-काज करना और अवसर मिलने पर दो-एक बोझ घास के बेच लेना ही उस भोले जीव की दिन-चर्या थी। वह जो कुछ कमा लेता, उसी में प्रसन्न था। सेठजी के यहाँ उसे नित्य कोई-न-कोई काम बेगार में अवश्य करना पड़ता था। इससे उस बेचारे की आमदनी दो आने प्रतिदिन की ही थी। इसी में वह अपने परिवार का पालन करता। करे भी क्या ? सेठजी

के यहाँ का कार्य करने के उपरांत उसे इतना ही समय मिल पाता, जिसमें वह केवल एक या दो बोझ ही बेच सकता था। हाँ, बेगार से उसके हृदय में दुःख तो होता, किंतु वह अपनी इस पीड़ा को किसी से नहीं कहता। कहे भी कैसे? वह सेठजी का खेत जोतता था। यदि उन्होंने बेदख़ल करा दिया, तो?

अमावस का दिन था—

उसका इकलौता बेटा शिवसिंह बीमार था। उसे बड़ी तेजी से बुख़ार आ रहा था। वह रात-दिन उसकी खटिया के पास बैठा काट देता। इस प्रकार भूख-प्यास से पीड़ित उसे ग्यारह दिन बीत गए थे। डॉक्टर के पास गया, तो उसने फ़ीस माँगी। भला, ग्यारह दिन से भूखे ग़रीब के पास चाँदी के पाँच टुकड़े कहाँ? वह निराश होकर लौट आया।

वह अपने गाँव के दूकानदार से पाँच रुपया ऋण लेने के लिये गया, किंतु उसके भाग्य ने वहाँ भी साथ न दिया। वह निराश होकर लौट ही रहा था कि उसने सेठजी के चपरासी भिक्की को अपने दरवाज़े पर पाया। वह उसे देखकर स्तंभित रह गया। उसका ख़ून सूख गया। भिक्की ने भी उसे देखा, और दूर से ही कहा—"आज सेठजी के नौहरे का छप्पर बनेगा; चल, तुझे बुलाया है।"

वह यह सुनकर कुछ देर चुप रहा। क्या उत्तर देता?

भला, सेठजी का चपरासी यह कब सहन कर सकता था।

उसका पारा सौ डिगरी से ऊँचा पहुँच गया। लाठी का एक हूदा मारते हुए उसने कड़ककर कहा—"चलता है कि नहीं? जवाब भी नहीं देता?"

"महाराज! मेरे घर में लड़का बहुत बीमार है। ग्यारह दिन से हमारे घर में चूल्हा नहीं जला है। तुम्हीं बताओ, मैं कैसे चलूँ? सरकार से कह देना कि वह दवा-दारू में लगा हुआ है। आज न आ सकेगा।"

भिक्की यह सुनकर गुस्से से तमतमा उठा, परंतु लोहू का-सा घूँट पीकर, उपेक्षा की दृष्टि से उसकी ओर देखकर चला गया।

सेठजी ने जब यह सुना कि रम्मो ने आने से इनकार कर दिया है, तो वह बहुत नाराज़ हुए—"उसे इतना घमंड, जो काम पर न आवे। भिक्की! पकड़ तो ला उस बदमाश को।"

भिक्की स्वामी की आज्ञा पाकर सीधा रम्मो के घर पर आया, और उसे कितनी ही भली-बुरी बातें सुनाईं, और चलने को कहा। अब की बार जब उसने इनकार किया, तो उसे मारा, और घसीटकर ले आया। बेचारा निर्निमेष नेत्रों से घर की ओर देखकर चल दिया। चलती बार पुत्र से भी नहीं मिल पाया।

सेठजी क्रोध में भरे बैठे थे। उसे देखते ही उस पर टूट पड़े—"क्यों रे रम्मो! तूने बैसाख की फ़सल की भेज नहीं दी। अब जेठ आ गया। ला, भेज ला।"

यह सुनकर रम्मो के होश उड़ गए। उसने बड़े दीन और नम्र भाव से कहा—"सरकार! अब के कुछ पैदा न हुई, और जो कुछ हुई भी, वह सब बेटे की बीमारी में काम आ गई। कार्त्तिक में अवश्य दे दूँगा। ..अब के बक़ाया रहने दो। भगवान् की इच्छा, मैंने कभी बक़ाया तो रक्खो नहीं।"

उसका यह कहना था कि सेठजी के क्रोध का बाँध पूर्ण रूप से टूट गया। कहने लगे—"पैदा तो घर में रख ले, और देने के नाम नहीं! हमें इससे क्या मतलब, जा कहीं से ला, हमको तो भेज दे।"

"सरकार! मैं..."

"सरकार-वरकार कुछ नहीं। सीधी तरह से दे. नहीं तो......"

"सरकार! नहीं तो क्या, मैं तो आपकी शरण में पड़ा हूँ। मारो, चाहे छोड़ो। मेरे पास तो अब यह शरीर है, कुछ भी करो।"

"कैसी बातें बनाता है। 'नहीं तो क्या'। क्यों? इस तरह नहीं देगा। चमार और मूँज जितने पिटते हैं, उतने ही अधिक काम आते हैं। चमार की जाति जो ठहरी। भिक्की, इस नालायक़ के लगा तो जूते।"

एक, दो, तीन, चार...सेठजी के कहने की देर थी कि बेचारे क्षुधा-पीड़ित निर्बल प्राणी पर जूतों की बौछार होने

लगी। वह त्राहि-त्राहि करने लगा। उसके सिर में ख़ून निकल आया।

"क्यों रम्मो! कुछ अक़ल ठिकाने हुई या नहीं? बोल, देगा मेज या और मरम्मत करवाऊँ?" सेठजी ने हँसते हुए कहा।

रम्मो ने शून्य दृष्टि से सेठजी की ओर देखा, और अवाक् रह गया। सेठजी का क्रोध यह देखकर और भी भभक उठा। कहने लगे—"कितनी ऐंठ है, जवाब तक नहीं देता। अभी इसकी ऐंठ नहीं गई।"

यह कहने की देर थी कि पुनः उस पर लात, थप्पड़ और घूँसे पड़ने लगे। अब की बार दुखिया घबरा उठा। रुँधे हुए शब्दों में उसके मुँह से निकला—"मर जाऊँगा सरकार!"

"मर जायगा, तो मर जा! तेरे बिना क्या दुनिया उजड़ जायगी। बेवक़ूफ़! मेज किसी की रही भी है।"

रम्मो की नाक से ख़ून बहने लगा। वह बेचारा बेहोश हो गया।

आध घंटे बाद—

वह उठा—उसके शरीर में अत्यंत तकलीफ़ थी। उठने तक की सामर्थ्य न थी। उसने नाक से ख़ून निकलते देखा, उसके नेत्रों से अश्रु-धारा प्रवाहित हो चली। ग़रीबों की

इससे अधिक पहुँच भी क्या? उनके खून और हृदय के पानी में क्या अंतर?

बेटा का ध्यान होते ही वह सहसा उठकर भागा, किंतु रास्ते में टकराकर गिर पड़ा। फिर उठा, और घर की ओर दौड़ा। दरवाजे पर पहुँचते ही पुकारा—"शिब्बो!" परंतु कोई उत्तर नहीं मिला। उसका हृदय 'धक्' करके रह गया। उसकी आशंका उसके नेत्रों के सम्मुख नाचने लगी। उसे विश्वास हो गया कि उसका शिब्बो शांति-लोक में निवास करने चला गया। उस लोक में, जहाँ ग़रीब और अमीर का कोई भेद नहीं। वह श्मशान की ओर 'शिब्बो', 'शिब्बो' कहते भागा। उसके नेत्र रिक्त हो चुके थे, इस समय उनसे एक बूँद भी आँसू न निकला।

मार्ग में ही उसे पड़ोसी मिले, जो उसका दाह-संस्कार करके लौट रहे थे। उसने बड़े करुण शब्दों में पूछा—"शिब्बो कहाँ है...?" उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना वह पुनः भागा। चिता के पास पहुँचकर देखा, तो वह शांत हो चुकी थी। कुछ अंगारे दहक रहे थे। किंतु, उसके हृदय की चिता अब भी धायँ-धायँ करके जल रही थी। वह वहीं बैठा रहा। एक दिन, दो दिन, तीन दिन तक......।

❀ ❀ ❀

इधर सेठजी ने नालिश कर दी, और गिरफ़्तारी निकलवा ली थी। सिपाही हथकड़ी लिए रम्मो के घर पर बैठे

थे कि उन्होंने रम्मो का पता श्मशान में पाया। वे सीधे श्मशान की ओर गए, और उसे गिरफ्तार कर लिया। वह कुछ नहीं बोला। उसने भाव-पूर्ण नेत्रों से चिता की ओर देखा, और एक शून्य दृष्टि अपने घर की ओर डाली। वह उनके साथ हो लिया।

सिपाही रम्मो को बंदीगृह ले गए।

क्या सर्वनाश और दीनता, दोनो ही सहोदर हैं?

चौदह

हृदय की भूख

विशाल राज्य, धन, वैभव, इन सबमें भी प्रेमलता को अपना जीवन सूना-सूना लगता था। इन सुख के साधनों में इतनी शक्ति न थी कि वे उसे संतुष्ट कर सकें। कहने को वह वीरपुर की महारानी थी—यादव-वंशी महाराज वीरसिंह की नव-विवाहिता पत्नी। स्वयं उसके पास क्या न था? युवा-वस्था थी, सौंदर्य था, सब कुछ था, फिर भी उसके अंतर् से एक हूक-सी उठती, और उसे विकल-सा बनाकर नेत्रों की राह बाहर निकल जाती। उसे एक अभाव सदा खटकता रहता। उसके निकट ऐसा कोई आश्रय न था, जहाँ चारो ओर से फिरकर उसकी शून्य दृष्टि रुक सके। उसके भावी स्वप्न-संसार को सत्य करने के लिये कोई युवराज न था।

वीरसिंह सच्चे योद्धा, धर्मात्मा तथा प्रजापालक शासक थे। आपकी प्रजा में सुख और संतोष था, तथा प्रजा आपको हृदय से चाहती थी। आपको घोड़े की सवारी बहुत पसंद थी, इसलिये अच्छे-अच्छे घोड़े भी रखने का शौक़

था। क़रीब दो सौ घोड़े उनकी घुड़साल में सदैव रहा करते थे।

घुड़साल राजमहल के निकट ही थी।

रानी दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर प्रतिदिन घुड़साल में आती, और घंटे-दो घंटे अपना मनोरंजन करके लौट जाती। नित्य की भाँति आज भी वह घुड़साल में आई, और दूर से ही पुकारा—"भूरा !"

इस प्यार-भरी पुकार को सुनकर एक श्वेत रंग का घोड़े का नवजात बच्चा हिनहिनाता रानी के पास दौड़ आया। बड़े प्रेम से रानी की ओर देखने लगा। रानी ने भी बड़े प्रेम से उसे खुजलाया। उसके मुँह पर लगी मिट्टी और झागों को छुड़ाया। उसका सिर अपनी गोद में ले लिया, तथा उसे बहुत देर तक खुजलाती रही। वह कुछ देर को तन्मय हो गई—अपने को भूल-सा गई। भूरा भी आनंद की झपकी ले रहा था।

अचानक थोड़ी देर में रानी चौंक उठी। बग़ीचे की ओर गई। भूरा यह देखकर रानी के पीछे-पीछे वहीं पहुँच गया। रानी टहलती-टहलती एक पटिया पर बैठ गई। अब क्या था, भूरा भी निकट आ गया। रानी ने पुनः चाह-भरे नेत्रों से उसकी ओर देखा। एक ठंडी साँस उसके अंतर् से निकली, और न-जाने क्यों नेत्रों से दो अश्रु-कण टपककर पृथ्वी पर क्षीण-विक्षीण हो गए। किंतु, थोड़ी देर पश्चात

भूरा के सिर पर हाथ फेरकर वह कुछ बिहँसती-सी राज-महल की ओर चली गई। भूरा कुछ उत्सुक नेत्रों से उसकी ओर देखता रह गया।

❀ ❀ ❀

कुछ दिन बाद—

राज्य में बड़ी चहल-पहल थी। सर्वत्र आनंद का एक स्रोत-सा बह रहा था। राजमहल भी अच्छी तरह सजाया गया था। उसके सामने भी बहुत सजावट और सुंदरता थी। चारो ओर तंबू तने थे। बीच में एक बड़ा शामियाना था। रानियों और बाँदियों के लिये अलग तंबू थे। आज देवी छिन्नमस्ता का पूजन है। राजा बीरसिंह ने पुत्र-प्राप्ति के लिये छिन्नमस्ता का यज्ञ कराया है। उसमें उन्होंने एक सौ एक नवजात घोड़े के बच्चों की बलि देने का निर्णय किया है।

समय आया—

• दर्शक लोग अपने-अपने स्थानों पर आकर बैठ गए। कुछ देर पश्चात् वधिक भी आ पहुँचा। रानियाँ भी आ गईं। एक बाड़े में एक सौ एक घोड़े के बच्चे बंद थे। रानी ने देखा, उन बच्चों में उसका भूरा भी था, जो एक विकल भाव से इधर-उधर देख रहा था। और, फिर निराश होकर अपनी दृष्टि शून्य में से लौटा लेता था। अंत में भूरा की निगाह रानी पर पड़ी। वह पुलक उठा। रानी

ने उसे गोद में लेने का विचार किया, किंतु सहम गई । विवश थी बेचारी । किंतु, वह अब उसके लिये विकल-सी हो गई । उसके मस्तिष्क में बार-बार एक प्रश्न चक्कर लगा रहा था—यह सब आयोजन किया गया है, तो क्यों ? और, उसके भूरा को अन्य उसके साथियों के साथ बाड़े में बंद क्यों किया गया है ? अंत में उससे न रहा गया । उसने एक बाँदी से पूछा—"इनका क्या होगा ?"

बाँदी ने कहा—"क्या सरकार को नहीं मालूम, आज देवी का यज्ञ है । ये सब छिन्नमस्ता की बलि चढ़ाए जायँगे । पुत्र की प्राप्ति होगी सरकार !"

रानी के होश उड़ गए । उसके हाथ काँपने लगे । किंतु साथ ही उसके नेत्रों से करुणा की पावन धाराएँ भी स्रवित हो रही थीं । उसे विश्वास न हुआ । निश्चित समय पर कुल-पुरोहित खड़ा हुआ । उसने मंत्र पढ़ा, और इसी बीच में बधिक को इशारा किया । अब क्या था, वधिक ने अपनी तलवार निकाली । यह देखकर रानी तिलमिला उठी । उसका खून सूख गया । वह मारने ही वाला था कि रानी ने परदे से निकलकर पीछे से उसकी तलवार पकड़ ली । समस्त सभा एक क्षण के लिये स्तंभित हो गई । किंतु थोड़ी देर पश्चात् ही एक हाहाकार-सा मच गया । खलबली हो गई । सब लोग आँखें फाड़-फाड़-

कर देखने लगे। एक ध्वनि आने लगी—"हैं, विघ्न कैसा?"

पंडित ने कहा—"धर्म के काम में अड़चन डालना ठीक नहीं।"

रानी के होठ क्रोध से काँपने लगे। उसने कहा—"इस महा अधर्म को धर्म बताते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती? इतनी जीवहिंसा करके यदि पुत्र की प्राप्ति हुई, तो ऐसा पुत्र नहीं चाहिए। इतनों की बलि देकर एक की प्राप्ति! घोर अनर्थ है! क्या छिन्नमस्ता राक्षसी है, जो खून पीकर प्रसन्न होती है? यदि उसमें शक्ति है, तो वह बिना खून पिए देवी की भाँति पुत्र का वरदान देगी।"

राजा उठा। उसने कहा—"प्रिये!"

पंडित पीछे हट गया। रानी ने नेत्रों में आँसू भरकर कहा—"महाराज! इनकी क्या माताएँ न होंगी? वे क्या इन्हें अपने पुत्रों की भाँति प्रेम करना न जानती होंगी? महाराज! माता का हृदय रक्खो, तब कहना......"

वह यह कहते-कहते चुप हो गई। इतने में भूरा किसी प्रकार बाड़े से निकलकर रानी के पास आ खड़ा हुआ। डरी, किंतु अश्रु-पूर्ण आँखों से रानी के मुख की ओर देखता रहा।

वधिक को साहस न हुआ कि वह एक की भी बलि दे। बलि बंद करा दी गई।

रानी राजमहल को चली गई, किंतु कुछ उदास-सी।

*　　*　　*

नौ महीने बाद—

राज्य में ख़ुशियाँ मनाई जा रही थीं। दरवाज़ों पर नौबत बज रही थी। राजा के यहाँ पुत्र-जन्म हुआ है। इस सूचना ने प्रत्येक के हृदय में नई उमंगें भर दी थीं।

समस्त राज्य आनंद और सुख से परिप्लावित था। चारो ओर रोशनी हो रही थी। आज रानी की आशाएँ हरी हुई थीं—दान के लिये ख़ज़ाने खुले थे।

राजा को विश्वास हो गया कि बिना बलि के ही छिन्नमस्ता ने प्रसन्न होकर पुत्र दिया है। उसने समस्त राज्य में डौंड़ी पिटवा दी कि कोई किसी प्रकार की बलि न दे। ऐसा करना भीषण अपराध होगा।

*　　*　　*

कुँवर जवाहरसिंह बड़े होने लगे। उनको एक सच्चे राजपूत की भाँति शिक्षा मिली। वीरता के सभी गुण उनमें विद्यमान थे। ओजस्विनी आवाज़, बुलंद चेहरा। विशाल भुजाएँ उनके तेज़ को दूना बढ़ा देती थीं।

इसी प्रकार सुख-शांति के साथ दिन बहुत शीघ्र बीत गए, और कुँवर पूर्ण युवा हो गए।

*　　*　　*

इधर तमाम राजपूताने में अकबर की दुंदुभी बज रही

थी। हिंदू राजपूत उसकी नीति के क्लोरोफ़ार्म से बेसुध थे। उसने बहुत-सी रियासतों को अपने राज्य में मिला लिया था, परंतु अभी वीरपुर बाक़ी था। उसकी निगाह इस पर भी गई। उसने एक विशाल सेना के साथ मानसिंह को भेजा। अब क्या था, मुग़ल-सेना ने चारो ओर से क़िला घेर लिया।

रानी ने जवाहरसिंह को बुलाया। भाल पर तिलक लगाकर जयमाल पहनाई। हाथ में तलवार दी, और कहा—"बेटा! आज वह दिन आया है, जिसके लिये क्षत्राणियाँ पुत्रों को जन्म देती हैं। आज तुझसे जन्मभूमि की माँग है, और है प्रजा और अपनी स्वतंत्रता की रक्षा का प्रश्न। देख, मेरे अंचल का दूध न लजाना, भागकर न आना। जाओ, बेटा! रण में जाओ, या तो वहीं मैदान में वीर-गति प्राप्त करना अथवा विजयी होकर आना।"

जवाहरसिंह ने सिर नवा दिया।

राजपूत-सेना ने जवाहरसिंह की अध्यक्षता में लड़ाई के लिये प्रस्थान किया। वीर राजपूत 'जय छिन्नमस्ता' की कहकर रण में कूद पड़े। घमासान लड़ाई हुई। जवाहरसिंह ने डटकर युद्ध किया, परंतु वह युद्ध में काम आया। फिर भी, वीर राजपूत रण में डटे रहे। अंत में मुग़ल-सेना के पैर उखड़ गए। सेना विजय प्राप्त कर राजधानी को लौटी, किंतु यह विजय पड़ी बहुत महँगी।

जवाहरसिंह की मृत्यु की ख़बर रानी को मिली, साथ ही

विजय की भी। वह युद्ध-स्थल में गई। कुछ क्षण तक निर्निमेष नेत्रों से लाश की ओर देखती रही। उसने शव को गोद में उठा लिया। उसे पुचकारा, और उसके नेत्रों से दो अश्रु-कण ढुरक पड़े। पास ही भूरा भी खड़ा था, जो बड़े कौतूहल-पूर्ण नेत्रों से रानी की ओर देख रहा था।

वह माता थी, उसकी यह सच्ची बलि थी।

पंद्रह

स्वाभाविकता

मुझे माँगनेवालों से एक विशेष चिढ़-सी है। भला, देखिए तो, उस समय उनकी दुआओं की झड़ी मानो भगवान् के यहाँ के सरक्यूलर-पत्र वितरण कर रही हो। कैसी भोली, कैसी मधुर वाणी में ये लोग माँगते हैं, मानो संसार में इनका कोई नहीं है। बेचारे दुःखों से मरे जा रहे हैं।

और तो और, एक बार किसी के पीछे पड़ना चाहिए, फिर तो उससे किसी-न-किसी प्रकार कुछ लेकर ही हटेंगे। हाथ जोड़ेंगे, पैरों पड़ेंगे, आप दुतकारेंगे, तो अपना सिर नँवा देंगे, किंतु लिए बिना वहाँ से हटने का नाम न लेंगे। मेरा तो ऐसे मौक़ों पर नाकों दम आ जाता है। सोचता हूँ, न-मालूम कहाँ की बला टूट पड़ी, और चुप हो जाता हूँ। ऐसा नहीं कि वे दर असल बहुत निर्धन होते हैं। मुल्क अभी इतना ग़रीब तो नहीं, किंतु यह तो उन्होंने पेशा बना लिया है। उनके मा-बाप बचपन से उन्हें शिक्षा ही यह देते हैं।

हाँ, तो कहनेवाला कुछ और था। ये लोग माँगते हैं; माँगें, मुझे क्या? फिर भी, बच्चों को माँगते देखकर आँखों में आँसू आ जाते हैं। सोचता हूँ, देश की भावी विभूतियों का जीवन किस प्रकार नष्ट किया जा रहा है।

प्रश्न यह उठता है कि ये माँगते क्यों हैं? किस अधिकार के बल पर ये चाहते हैं कि हम इन्हें दें। भोले जीव अब भी बीसवीं शताब्दी के मनुष्यों पर इतना विश्वास रखते हैं कि वे इनकी कृत्रिम दुआओं से द्रवित होकर इन्हें कुछ दे देंगे। भ्रम है उनका। लोगों को क्यों परेशान करते हैं? यदि इनसे कोई बचना चाहे, तब भी...मैं तो इन्हें कुछ देना दया का दुरुपयोग करना समझता हूँ। और तो और, जरा वीरपुर सैर के लिये गया था—ताँगे पर था। कुछ लड़के वहाँ खेल रहे थे। ताँगा देखते ही वहाँ से उठे, और ताँगे के पीछे भागने लगे। 'बाबा एक पैसा...' बहुत डाटा, किंतु न माने। यहाँ तक कि मैंने उनमें से एक के बेंत भी लगा दिया, फिर भी न माने। ताँगा चलता गया, और मैंने कुछ भी न दिया..। दूँ, तो क्यों दूँ...? उन्हें देकर उनकी आदत बिगाड़ना है। ऐसे समय पर मुझे उनके मा-बापों पर बड़ा क्रोध आता है। वे इस प्रकार क्यों छोड़ देते हैं, पढ़ाते-लिखाते नहीं। हाँ, यह मान सकता हूँ कि देश की आर्थिक दशा बहुत खराब है। किंतु इतनी नहीं कि उन सब बच्चों के मा-बाप ग़रीब थे। उनमें एक

मेरे घनिष्ठ मित्र डॉक्टर साहब का भी लड़का था! देखिए देश की इस बीमारी को।

खैर, उस दिन पीछा छुड़ा लिया। घर आया। सोचने लगा, बच्चे हैं, माँग बैठे होंगे। किंतु उस घटना से मस्तिष्क बहुत परेशान रहा, और न-मालूम कुर्सी पर बैठा बहुत देर तक क्या-क्या सोचता रहा।

गर्मी के दिन थे। प्रकृति के किसी सुंदर स्थल में शांत जीवन व्यतीत करने को जी चाहा। सहस्रधारा की बहुत तारीफ़ सुनी थी—चल पड़ा। आकर देखा वही, जो आशा थी। उत्तुंग पर्वत-शृंखलाएँ हरीतिमा लिए हुए, कल-कल करती निर्झरिणी, शांत, मनोरम वातावरण...हृदय खिल उठा। मन प्रकृति के उस सच्चे सौंदर्य पर रीझ गया। मेरे सम्मुख प्राचीन जीवन का रहस्य स्पष्ट हो गया, और मुझे मानव की कृत्रिमता पर हँसी आ गई।

ऐसे ही एक दिन राजपुर जा रहा था, कुछ काम से। जीवन की भाँति पर्वत की ऊँचाई-निचाई पर चढ़ते-उतरते उन्हें जैसे-तैसे पार कर रहा था। झीनी-झीनी बूँदें पड़ रही थीं। उस समय दृश्य और भी मनोरम हो रहा था। पर्वतों पर बैठे बादल बड़े अच्छे प्रतीत होते थे। कुछ दूर चला होऊँगा कि एक पहाड़ी बालिका मिली। उम्र कोई दस वर्ष की होगी। रंग गोरा और नेत्र यौवन के आगमन का संदेश दे रहे थे। अपनी पहाड़ी पोशाक पहने बालिका ने

कहा—"सलाम..." और भाव-पूर्ण नेत्रों से मेरी ओर देखती रह गई। मैं ठिठककर रुक गया, और उसकी ओर मुड़कर कहा—"क्या चाहती है लड़की?"

वह विहँसती-सी चुप.. मैंने दुबारा कहा।

उसके नेत्र मुझ पर लग गए। कैसे करुण, कैसे भोले नेत्र थे वे?

वह निरंतर विहँसती रही। अचानक उसकी भाव-मुद्रा परिवर्तित हो गई। उसका गोरा मुख-मंडल लाल हो गया। वह सहम-सी गई, और एक लज्जा का-सा भाव उसके मुँह पर खेलने लगा। नेत्र वैसे ही...ऐसे लगा, न-मालूम क्या भूल कर गई हो।

मैं उस भोली, सीधी-सी बालिका की ओर देखता रहा।

उसके होठ कुछ खुले। बोलने का कुछ साहस-सा किया। चेहरे पर पुनः मुस्कान खेलने लगी। नेत्रों में एक मूक प्रार्थना-सी प्रतीत होती थी। उसने कहा—"बाबू!" और चुप।

मैंने कहा—"क्या चाहती हो?"

उसने अपने शर्मीले नेत्र मेरी ओर लगा दिए। जैसे वे मौन भाषा में कह रहे हों—"कुछ नहीं!" उसका मुख-मंडल एक अद्‌भुत भोलेपन से प्लावित था।

कोई उत्तर न पाकर मैं आगे बढ़ा। उसने कहा—"बाबू!" और, फिर लजा गई। मैंने मुड़कर कहा—"क्या?" किंतु मौन...

आगे एक लड़का खड़ा था। उसने कहा, बाबू! यह एक पैसा चाहती है। मैं कुछ सोचने-सा लग गया। अंत में मैंने उसे बुलाया। उसने पहले तो अंचल में मुँह छिपा लिया, फिर पास आई। मैंने एक पैसा निकालकर उसके हाथ पर रख दिया, और आगे बढ़ा। वह एकटक मेरी ओर देखती रही। किंतु उसी पूर्ववत् मुस्किराहट के साथ।

('उदय' में प्रकाशित)

एक दिन की बात, सुबह के कॉलेज थे। वह अपनी मोटर में कॉलेज जा रही थी। उधर से रामनाथ भी अपनी पुस्तक हाथ में दबाए शीघ्रता से आ रहा था। मोटर उसके निकट आकर सहसा रुकी। उर्मिला बाहर निकली, उसने कहा—"मिस्टर रामनाथ, समय बहुत कम रह गया है। संभव है, तुम 'लेट' हो जाओ। आओ न, इसमें बैठ चलें।"

बेचारा रामनाथ यह सोच ही रहा था कि पैर वहाँ ठीक समय पर पहुँचाने में असमर्थ रहेंगे, इस सहानुभूति से वह बहुत प्रसन्न हुआ, और ड्राइवर के पास बैठ गया। मोटर सर से कॉलेज पहुँच गई, और दोनो उतरकर अपनी कक्षा में चले गए।

उसने इस उदारता के प्रति एक शब्द भी न कहा। किंतु उसने देखा, उर्मिला कुछ भाव-पूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखती रही। खैर, कुछ भी हो, परंतु इस घटना ने रामनाथ के हृदय में उर्मिला के लिये एक स्थान कर दिया।

❀ ❀ ❀

दिन एक के बाद एक बीतते चले गए, और कैलास के मेले का दिन आ पहुँचा। रामनाथ अपने गत वर्ष के किए विचार को अब पूर्ण करने की धुन में था। वह इस वर्ष मेला अवश्य देखना चाहता था। किंतु किस तरह ? यह उसके सामने जटिल समस्या थी। समस्या इसीलिये कि जेब उसके प्रति कुछ अनुदार थी। सहसा उसे याद आया

कि जब मैं समय-समय पर उर्मिला से मिलता था, तो वह हँसी में कहा करती थी—"मोटर तो आपकी ही है रामनाथ! जब चाहो, सैर कर सकते हो।" अब क्या था, उसने झट उर्मिला को लिख भेजा।

उर्मिला वह पत्र पाकर प्रसन्न ही हुई। वह स्वयं मोटर लेकर आई। दरवाजे पर ही रामनाथ को देखकर बोली—"नमस्ते मिस्टर रामनाथ! मैं भी तो मेला देखना चाहती थी। बस, जा ही रही थी कि तुम्हारा पत्र मिला। अच्छा हुआ, तुम्हारा साथ मिल गया। आओ, चलो न?"

रामनाथ बिहँसता हुआ गाड़ी में बैठ गया। उर्मिला स्वयं मोटर चला रही थी। मार्ग में कुछ देर तक कॉलेज-विषयक बातचीत होती रही। इसी बीच में उर्मिला ने एक प्रश्न किया—"उसके विषय में क्या विचार है?"

"किसके विषय में?"

"जनाब! भावी पत्नी के विषय में।" मुस्किराती हुई उर्मिला ने कहा।

"अच्छा प्रश्न किया, उर्मिला! ओह! आप इसका उत्तर चाहती हैं, तो सुनिए। मैं उससे विवाह करूँगा, जो कम-से-कम दस सेर पीस सके। जो गोबर-पानी कर सके, और कुट्टी काट सके। क्यों न?"

दोनो एक दूसरे की ओर देखकर खिलखिलाकर हँस

पड़े। किंतु उसी क्षण उर्मिला के मुख-मंडल पर निराशा की एक हलकी-सी रेखा खिंच गई।

शाम को बड़ी ख़ुशी से दोनो मेला देखकर लौटे। मोटर रामनाथ को घर उतारकर सीधी कोठी की ओर चली गई।

घर आकर रामनाथ ने सोचा, मैं भी उससे प्रेम अवश्य करता हूँ। किंतु अधिकार (Possession) की दृष्टि से नहीं, वरन् भ्रातृत्व पाने की दृष्टि से। मैं उसके लिये बंधन नहीं चाहता, किंतु चाहता इतना-भर हूँ कि उसे अपने से उस सूत्र में बाँध लूँ, जिसमें मानव का वास्तविक सत्य छिपा है। मैं तो दो आत्माओं का वह अमर संबंध चाहता हूँ, जो मानवता को निरंतर विकास की ओर प्रेरित करता रहता है।

❀ ❀ ❀

एक दिन की बात, छुट्टी का दिन था। रामनाथ कमरे में बैठा अख़बार पढ़ रहा था।

अचानक मोटर के हार्न की ध्वनि उसके कानो में पड़ी। वह तुरंत ही उस ध्वनि को पहचान गया। कपड़े पहनकर बाहर निकल भी नहीं पाया था कि उसने उर्मिला को आते देखा। दूर से ही उसने बड़े प्रेम से कहा—"बहन उर्मिला ! नमस्ते। कहो, कैसे आना हुआ ?"

वह अपनी बात पूरी भी न करने पाया था कि उसने

देखा, उर्मिला का मुख-मंडल एकदम फीका पड़ गया। ऐसा तीत हुआ मानो उसकी सब आशाओं पर पानी फिर गया हो। वह कुछ क्षण मूक, किंतु भाव-पूर्ण नेत्रों से रामनाथ की ओर देखती रही। उसे कुछ बोलने का साहस न हुआ। वह बिना कुछ उत्तर दिए ही वहाँ से चली आई।

इस घटना से रामनाथ के मस्तिष्क में विचारों का एक तुमुल युद्ध हो पड़ा। उसका मस्तिष्क प्रश्नों से रुँध-सा गया। वह सोचने लगा—उसने उत्तर क्यों नहीं दिया, क्या अभिलाषा थी। क्या प्रेम का भी कोई अन्य विशेष प्रकार होता है? इस विश्व में सौंदर्य की उपासना करना पाप है? यदि पाप नहीं तो उत्तर क्यों नहीं दिया? क्या सौंदर्य में उस अनंत का संदेश नहीं? क्या वह इंद्रियों के तृप्त करने का ही एक साधन है?

वह इन प्रश्नों में बँधा-सा कुछ देर नेत्र बंद किए शांत भाव से सोचता रहा। अचानक वह चिहुँक-सा उठा। उसके मुँह से निकला—"यदि वासनामय प्रेम नहीं था, तो उसने उत्तर क्यों नहीं दिया?"

अब उसके नेत्रों से अश्रुओं की एक अविरल धारा बह निकली। वह अपनी आराम-कुरसी पर जाकर लेट गया, और नेत्र बंद किए न-मालूम क्या-क्या सोचता रहा।

उस दिन के बाद फिर किसी ने उर्मिला और रामनाथ

को कभी बात करते हुए न देखा। दोनो का संसार ज्यों-का-त्यों रहा, न-मालूम कब तक ?

तब क्या सच्चा प्रेम बाह्य अपनत्व का बलिदान है ?

सत्रह

घर-बाहर

"बाबूजी ! कल एक हजार रुपया किसको दान दिया था ?" सुरेश ने भोले भाव से पूछा।

"अपने देश की एकमात्र राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस को।" सेठ चिंतामणि ने उत्तर दिया।

इस समय प्रभा रसोई में खाना बना रही थी। यह सुनकर वहबाहर निकल आई। उसने कहा—"बाबूजी! तुम समझ-बूझकर काम नहीं करते। गांधी ने लोगों को चौपट तो करा दिया, इस पर भी आप कांग्रेस को दान देते नहीं अघाते। मुझे तो डर है, कहीं पुलिस को हम पर भी संदेह न हो जाय !"

"तुम तो मूर्ख हो प्रभा ! स्त्रियाँ स्वभाव से ही डरपोक होती हैं। यह तो तुम जानती हो कि बाबूजी व्यर्थ कभी रुपया ख़र्च नहीं करते। जब करेंगे, तब कुछ-न-कुछ मतलब से ही करेंगे।" सेठजी ने मुस्किराते हुए कहा।

"भला, आपत्ति के अतिरिक्त इसमें क्या लाभ होगा ?"

"लो सुनो, अब तुमको सब समझाना ही पड़ेगा। देखो,

कांग्रेस में दान देने से लोग मुझे अत्यंत श्रद्धा की दृष्टि से देखेंगे। मेरा रोब बढ़ जायगा। अखबारों में मुस्किराता फ़ोटो निकलेगा। बड़े-बड़े नेताओं का कृपा-पात्र बनने का अवसर प्राप्त होगा। और, सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि बड़े लाट साहब की एसेंबली का मेंबर होने का मौक़ा हाथ लगेगा। यदि ईश्वर ने चाहा, तो इसके लिये मैं भी नामज़द हो जाऊँगा। फिर, जो तुम कहती हो कि शायद सरकार हम से अप्रसन्न हो जायगी, सो क्यों ? क्या उसे मालूम नहीं कि हम उसके कितने भक्त हैं ? अब समझीं। अरे, बिना इस तरह रुपए का बलिदान किए आज तक दुनिया में कुछ हुआ भी है ?"

'तो आपके कहने का मतलब है कि जो आदमी इस तरह रुपया ख़र्च कर सकेगा, वही बड़ी आसानी से नेता बन जायगा ?" प्रभा ने एक कौतूहल के-से भाव से पूछा।

"आजकल की राजनीति में ऐसा ही है तू यह नहीं जानती। दुनिया के पास धन का त्याग ही एक ऐसा पैमाना है, जिससे वह किसी मनुष्य के स्वदेश-प्रेम की नाप करती है। हज़ारों आदमियों के हृदय में देश के लिये सबसे अधिक भक्ति होगी। अनेकों अपने प्राण न्योछावर कर चुके होंगे, और बहुत-से प्रस्तुत होंगे। लाखों न-मालूम देश की प्रतिदिन कितनी सेवा कर रहे हैं, अपना सब कुछ खोकर। किंतु उन ग़रीब भाइयों के कोई नाम भी नहीं जानता। आज

उन्हें कोई नहीं पूछता। यदि उनके पास भी हमारे बड़े-बड़े नेताओं की भाँति बहुत-सा रुपया होता, और वे उसे त्याग देते, तो वे देश के गण्य-मान्य नेता हुए होते। संसार में ख्यात हो गए होते। इसलिये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में यह उसी का खेल है। ख़ैर...ला, मुझे बड़ी भूख लगी है, खाना ला।"

अब प्रभा की समझ में यह सब आ गया। मेंबरी का लोभ और सम्मान बढ़ने के लालच ने उसके व्यग्र हृदय को कुछ संतोष प्रदान किया। वह भावी कल्पनाओं के मधुर स्वप्न देखने लगी। सेठजी खाना खाकर आराम करने चले गए।

❀ ❀ ❀

आज शहर के प्रधान हॉल में ग्राम-सुधार-संबंधी सभा थी। देश के मुख्य-मुख्य नेता भी उसमें सम्मिलित होनेवाले थे। सेठ चिंतामणि के पास भी निमंत्रण-पत्र आया था। सेठजी खद्दर-भंडार से ख़रीदी हुई धोती, खद्दर की अचकन और खद्दर की ही टोपी पहनकर सभा में गए, और अपने यथोचित स्थान पर बैठ गए। आपसे व्याख्यान देने के लिये कहा गया। अब क्या था, रूमाल से मुँह पोंछते हुए आप उठ खड़े हुए, और आध घंटे की अपनी स्पीच में आपने अनेकों राजनीतिक समस्याओं को रखते हुए ग्राम-सुधार के साधन बताए। अंत में एक प्रस्ताव पेश हुआ कि ग्रामों के लिये मय रेडियो के एक मोटर-लारी की आवश्यकता

है, जिससे वहाँ हल, बीज वग़ैरा की सहायता तथा ताज़े समाचार पहुँचाए जायँ। सेठजी ने स्वयं अपने पास से इसके लिये रुपया देना स्वीकार किया। इसके बाद कुछ और परामर्श होकर मीटिंग विसर्जन हो गई। हॉल सेठजी के लिये की गई हर्ष-ध्वनि से गूँज उठा। प्रत्येक मनुष्य उनकी मुक्त कंठ से सराहना करने लगा।

❀ ❀ ❀

भले कार्यों की प्रशंसा फैलते कितनी देर लगती है। फ़ैज़पुर-ज़िले के कांग्रेस-कार्यकर्ताओं में सेठ चिंतामणि का एक प्रमुख स्थान है। आपके पास सदैव कार्यकर्ताओं और देश-सेवकों की भीड़ लगी रहती है। देश के बड़े-बड़े नेताओं के यहाँ से चिट्ठी-तार प्रतिदिन आते रहते हैं। नित्य नए प्रस्ताव होते हैं। सेठजी तन, मन, धन से सबमें पूर्ण सहयोग देते हैं। ग्राम की जनता तो सेठजी को देवता-स्वरूप समझती है। आपने गाँववालों के लिये बहुत कुछ किया है। यह किसी से अब छिपा नहीं। आप देश के ऊँचे कार्यकर्ता और निर्भीक, सच्चे सेवक समझे जाते हैं। प्रत्येक अख़बार में सेठजी की तारीफ़ की टिप्पणी निकलती है।

❀ ❀ ❀

सेठजी कमरे में बैठे अख़बार पढ़ रहे थे कि सेक्रेटरी का तार आया कि आपको गाँवों में दौरा करने जाना है।

सेक्रेटरी की आज्ञा का पालन करने में देर ही कितनी! चट से सब सामान तैयार कर आप दौरे पर रवाना हो गए। प्रथम दिन:वीरगाँव के लिये निश्चित था। आपने वहाँ पहुँच-कर, वहाँ के नंबरदार करोड़ीसिंह को बुलाकर पूछा—"नंबरदारजी, आपके गाँव में लोगों को क्या-क्या दुख है?"

'सेठजी! एक दुख हो, तो बताऊँ। लगान का, कपड़े का, नाज का, आबपाशी का, बौहरों के क़र्ज़े का, अनेक दुख-ही-दुख हैं। हम तो आपकी रियाया हैं, आप ही हमको बचा सकते हैं।" गाँव के मुखिया करोड़ीसिंह ने बड़े करुणा-जनक शब्दों में उत्तर दिया।

सेठजी ने यह सुनकर बहुत समवेदना प्रकट की और उसे धैर्य बँधाया कि "हमारे कांग्रेसी आदमी इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि आपके सब दुख दूर हों। आप लोग भगवान् से यही प्रार्थना करें कि अब की चुनाव हो, तो उसमें हमारी ही विजय हो। मेरा तो हृदय यह चाहता है कि आपके दुख जल्दी-से-जल्दी दूर हो जायँ।"

"भगवान् ऐसा ही करें।" उस भोले ग्रामीण ने उत्तर दिया। "परंतु सेठजी, क्या कौंसिल में साधारण जनता को स्थान नहीं है? उसमें हम लोग मेंबर नहीं हो सकते?" उस भोले किसान ने बड़ी उत्सुकता से पूछा, और भाव-पूर्ण दृष्टि से सेठजी की ओर देखने लगा।

यह सुनकर पहले तो सेठजी कुछ देर के लिये असमंजस में पड़ गए, किंतु कुछ सोच-विचार करने के बाद उन्होंने बड़ी नम्रता से उत्तर दिया—"एक समय आएगा, जब आप भी मेंबर होंगे। हम आपके बनाए तो वहाँ जाते ही हैं। सब शक्ति वहाँ आपकी ही है।"

यह कहकर सेठजी अपनी कार पर बैठकर फ़ैज़पुर के लिये रवाना हो गए। घर आकर सर्व प्रथम कार्य यह किया कि अपने ग्राम-भ्रमण की एक सुंदर रिपोर्ट तैयार की, और उसे आचार्य रामानंद के पास भेज दिया।

❀ ❀ ❀

सेठ चिंतामणि दिन-भर के काम से फ़ुरसत पाकर बग़ीचे जाने ही वाले थे कि राष्ट्रपति के सेक्रेटरी का जवाबी तार मिला। उसमें लिखा था—'क्या आपका नाम अगले चुनाव में मेंबरी के लिये तीन ज़िलों से नामज़द कर दिया जाय?' सेठजी यह पढ़ते ही ख़ुशी से फूले न समाए, किंतु मन के भाव छिपाते हुए आपने बड़ी उपेक्षा के भाव से उस पर लिख दिया—'Do, as you like.'

तार चला गया।

अट्ठारह

निरा मज़दूर

उषा की स्वर्ण मुस्कान के साथ बेंदो भी अपने हल-बैल सँभालकर खेत की ओर चल देता। प्रकृति के उल्लास के छाया-स्वरूप उसके अंतर में भी एक राग जाग उठता। वह बड़ी तन्मयता के साथ अलापती 'उमिरिया बीती जात साधो.. ...' और उसमें अपने को भूल-सा जाता। हरे, लह-लहाते खेतों को देखता हुआ वह अपने खेत पर पहुँच जाता।

वहाँ दिन-भर जी तोड़कर काम करता। दोपहर के क़रीब वह विश्राम करने के लिये एक पेड़ के नीचे बैठकर हुक़्क़ा पीने लगता। उसके नेत्र बरबस आकाश की ओर जा लगते, जिनमें एक मूक प्रार्थना थी। वह निरंतर देखता रहता, जब तक कलावती आकर उससे न कहती—"क्यों जी! ऊपर की ओर क्या देख रहे हो?"

अब उसे मालूम होता कि वह खेत पर है, तथा भूखा भी है। एक स्वप्न से जाग उठता, और कहता—"तुम रोटी ले आई?" और उसके हाथों से एक छोटी-सी मटकी ले लेता।

"कला, दलिया खाते बहुत दिन हो गए। रोटियों का जी चाहता है। रोटी क्यों नहीं बनाई ?" बेंदो ने दलिया खाते हुए कहा।

इस प्रश्न को सुनकर कलावती असहाय नेत्रों से बेंदो की ओर देखने लगती। यह तो वह कहना नहीं चाहती थी कि घर में आटा ही नहीं है, रोटी कहाँ से बनाऊँ ? फिर भी अपने पति को सांत्वना देने के लिये कहती—"जल्दी में मैंने दलिया ही बना लिया। सोचा, कौन गरमी में चूल्हे पर जले। अब कल जरूर बना लाऊँगी।"

बेंदो को क्या मालूम था कि कल भी आज से अच्छी न होगी। वह बड़े प्रेम से दलिया खाने लगता। कलावती कुछ आशा-पूर्ण नेत्रों से खेत की ओर देखती हुई अपने घर लौट आती।

❀ ❀ ❀

"मा ! हम तो चने की रोटी लगे।"

सुबह होते ही मोहन ने रोना शुरू कर दिया। कलावती बहुत रखने का प्रयत्न करती, किंतु वह किसी तरह भी शांत न होता था। आखिरकार बेंदो ने भी मोहन के रोने की ध्वनि सुनी। वह छत पर से ही चिल्लाया—"मोहन ! क्यों मचल रहा है ?"

"बिना बात ही न-मालूम सुबह से क्यों रोना शुरू कर दिया है।" कलावती ने हृदय का भाव छिपाते हुए कहा।

"दादा ! हम चने की रोटी लेंगे, मा हमको नहीं देती।" यह कहकर भोला शिशु बेंदो के पास जाकर रोने लगा। अब कलावती के नेत्र भी अश्रुओं से भर आए। वह अधिक न छिपा सकी, बड़े करुण शब्दों में उसने कहा—"रोटी कहाँ से दूँ। घर में आटा ही नहीं है।"

"जब आटा नहीं है, तो उस दिन से यह बात क्यों छिपाए रक्खी ?" यह कहते-कहते उसका चेहरा तमतमा उठा। कंधे पर पिछौरा डालकर सीधा सेठ बेनीमाधव के यहाँ आया। सेठजी से एक मन नाज उधार लेकर घर में डाल दिया। उस दिन सभी ने बड़े प्रेम से रोटी खाई। सब खुश थे—'चरैं हरित तृन बलि-पसु जैसे।'

❀ ❀ ❀

आठ मन गेहुओं के लिये बेंदो एक बड़े असमंजस में पड़ा था। इसमें से कितना भेज में दे, कितना बोहरों को, और कितना घर में खाने को रक्खे ? उसकी सब आशाएँ टूट गईं। आज वह निराश-सा बैठा अपने दुर्भाग्य पर सोच रहा था कि यदि वह किसी के यहाँ छ रुपए माहवार की नौकरी कर लेता, तो इस खेत से अच्छा रहता। उसके सम्मुख उसकी ग़रीबी का करुण दृश्य घूम रहा था। रह-रहकर आज उसे अपने जी-तोड़ परिश्रम की याद आ रही थी।

कुछ ही क्षणों में वहाँ पर एक अच्छी-खासी भीड़ जमा

हो गई। ये सब बेंदो के महाजन थे। सर्वप्रथम सेठ सोहनलालजी ने अपनी 'भेज' का तक़ाज़ा किया।

"सेठजी! पटवारी कह रहा था कि मुझ पर सब छूट आ गई है। फिर, आप पूरी 'भेज' क्यों माँग रहे हो?" बेंदो ने बड़े दीन भाव से पूछा।

"बेंदो, कुछ शर्माओ भी तो। पैदावार तो तुम घर में रख लो, और 'भेज' के नाम छूट आ गई है। जिस समय खेत तुमने लिया था, उस समय छूट का कोई सवाल न था, अब आँख दिखाने लगे। हम क्या मालगुज़ारी घर से देंगे। यह बता?" सेठजी ने त्योरी बदलते हुए कहा।

"मैं क़सम खाता हूँ, जो एक दाना भी मैंने घर में रक्खा हो। जो पैदावार हुई, वह तुम्हारे सामने है। सेठजी! इतना अन्याय मत करो। कम-से-कम आधी छूट तो अवश्य दो। इससे पहले मैंने तुमसे कभी नहीं कहा। देखो, राज भी तो हम......" यह कहते-कहते उसका गला भर आया। किंतु सेठजी न पिघले। आख़िर यही तय हुआ कि बेंदो अब पूरी 'भेज' दे। यदि बाद में कुछ खाने के लिये नाज की ज़रूरत पड़े, तो सेठजी उससे अलग थोड़े ही हैं। बेचारे ने विष का-सा प्याला पीकर आठ मन गेहुँओं में से चार मन सेठजी के लिये तौल दिए, शेष में से एक मन बीज-वाले को दे दिए। एक मन के दो मन गेहूँ सेठ बेनीमाधव के आदमी को तौल दिए, और बाक़ी एक मन गेहूँ बेचकर पानी

की 'भेज' चुका दी। इस तरह देखते-देखते अपने सामने ही अपने छः महीने का, पसीने का परिश्रम लुटा दिया। आज उसके पास खाने को नाज भी न था—उसकी वस्तु पर उसका किंचित् अधिकार न रहा।

मरे-से हृदय में अपने हल-बैल सँभालकर खाली हाथ बेंदो घर की ओर लौट पड़ा। वह सोच रहा था कि घर-वाली समझ रही होगी कि आज घर में राम आएगी। बच्चे भी ख़ुशी से फूले न समाते होंगे। किंतु यहाँ अब खाने-भर के लिये भी दाने नहीं। उसका हृदय एक बोझ से दबा जा रहा था। नेत्रों से आँसू बह रहे थे, किंतु गाँव के निकट पहुँचते-पहुँचते उसके आँसू सूख गए—उसके दबे कंठ से निकला 'उमिरिया बीती जात साधो...' आज उसमें और दिन की भाँति उल्लास न था, वरन् विषाद के सूखे आँसू थे।

उन्नीस

एक भूल

जीवन में घटनाएँ हों, इसकी कोई चिंता नहीं, किंतु वे रह रहकर क्यों याद आती हैं ? व्यर्थ में क्यों मनुष्य को परेशान करती हैं ? और, कोई बात भी तो न थी, साधारण-सी...किंतु मस्तिष्क से हटाए नहीं हटती...? लाख बार भूलने की चेष्टा करता हूँ, किंतु भूली नहीं जाती। अंत में यह सब क्या है ?

हाँ, तो एक छोटी-सी बात, रेल में सभी आदमी बैठते हैं—डिब्बे में कोई एक आदमी तो बैठता नहीं। मैं भी बैठा था। मेरी सीट के दूसरी ओर एक भद्र पुरुष बैठे थे। साथ में एक षोड़शवर्षीया बालिका थी। यौवन के विकास पर थी—नेत्रों में मादकता-सी झलक रही थी, और गोरे मुख-मंडल पर एक अद्भुत सौम्यता खेल रही थी। अपने पहनाव-उढ़ाव से वह शिक्षित जान पड़ती थी। हाथ में अखबार भी था। वह पढ़ रही थी—बहुत भोली भावनाओं के साथ।

दुर्भाग्य से उस दिन मुझे अखबार पढ़ने को न मिला था।

बिना अख़बार पढ़े मुझे चैन नहीं मिलता था। किसी-किसी दिन तो दो-दो, तीन-तीन अख़बार ख़रीद ले आता था। अख़बार निकट देखकर जी ललचाया। मैं भी पीछे की ओर मुँह करके देखने लगा। बालिका ने समझ लिया—वह जान गई कि मैं अख़बार पढ़ना चाहता हूँ, किंतु आज पढ़ नहीं सका। बड़े भोले भाव से उसने मुझसे कहा—"क्या आप अख़बार पढ़ना चाहते हैं ? लीजिए, पढ़िए।"

उसने एक पेज निकालकर मुझे दे दिया, और कुछ भाव-पूर्ण नेत्रों से मुझे देखती रही। मैं उसकी इस उदारता पर द्रवित हो गया। हृदय में उसकी यह याद बैठ गई। मैं अख़बार पढ़ता रहा। इतने में अलीगढ़-स्टेशन आ गया। अख़बार उसे देकर उतर पड़ा। इस कृपा के बदले में उससे कुछ भी न कहा।

जब घर आया, तो मुझे कुछ भारी-भारी-सा मालूम होने लगा। हृदय में क्षण-क्षण में एक प्रेरणा-सी होने लगी; मैं कुछ भूल आया हूँ। एक अजीब बेचैनी में इधर-उधर घूमता रहा। बहुत देर तक कुछ समझ न पाया कि मैं क्या करूँ ! छोटे भाई ने दूध पीने को कहा, तो उस पर झल्ला उठा। आख़िर मैं तय ही न कर पाया कि हुआ क्या ? मन कुछ उड़ना-सा चाहता था। एक अज्ञात हूक-सी हृदय में उठती और विलीन हो जाती थी। बार-बार वे भोले नेत्र

मेरे सम्मुख आ जाते, और वह मुस्कानमय मुख-मंडल। कैसी उदार थी वह बाला ! 'लीजिए पढ़िए।" उसने पैसे खर्च किए थे। अखबार उसका था। आखिर उसने मुझे पढ़ने को क्यों दिया ? यदि मैं पढ़ना चाहता था, तो पैसे खर्च करके पढ़ता। मेरा उस पर क्या अधिकार था ? पागल थी वह लड़की।

फिर, मन में कुछ अशांति-सी उठता--नहीं, नहीं, वह पूर्ण उदार थी—पागल नहीं। तब क्या उदारता जरूरी है ? होगी, इससे मुझे क्या; मुझे तो कुछ करना है, मन हलका करने के लिये। एक मजे की बात और—उसकी उदारता के बदले में मैंने दो शब्द भी तो न कहे ! कहता—"धन्यवाद ! इस कृपा के लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ।"

तब, क्या इतने-भर का मूल्य केवल इन शब्दों के कहने से चुक जाता ? झूठ है। यह केवल मन बहलाने का, अपने को भ्रमात्मक संतोष देने का, तरीक़ा है। और, मैं तो न-मालूम क्या चाहता हूँ ? इनसे परे कुछ चाहता हूँ। देना अवश्य कुछ चाहता हूँ—न-मालूम क्या ? केवल उन शब्द-मात्र से मेरा संतोष होने का नहीं—यह उड़ता जी न शांत होगा। प्रश्न यह है कि मैं यों ही क्यों चला आया ?

❀ ❀ ❀

मैं अपने लिखने के कमरे में गया, और कुरसी पर बैठकर

नेत्र बंद किए। विचार-निमग्न कुछ देर तक बैठा रहा। अंत में चौंककर उठा। पैड से एक काग़ज़ निकालकर उस पर लिखना आरंभ किया—

ता०......

'कौन ?..

मैं आपकी उदारता के लिये आपको धन्यवाद देता हूँ!..."

बस, इतना ही .....क्या हुआ इससे ? नहीं, नहीं, कुछ और भी देना चाहता हूँ। इसके अतिरिक्त न-जाने क्या ? चट से वह पत्र फाड़ दिया। दूसरा पेज निकाला, और बड़े सुंदर शब्दों में सँभाल-सँभालकर लिखना आरंभ किया—

"प्रिय बहन......"

यह प्रथम अवसर है, जहाँ अपनी विमल संपत्ति के एक अंश में से दूसरे को देने जा रहा हूँ। संसार में यदि मैं किसी से प्रेम करता, यदि किसी से स्नेह करता हूँ, तो केवल अपने से ही। मैं अपनी उस पवित्र वस्तु का अधिकारी किसी को बनाना नहीं चाहता था। क्यों बनाऊँ, जब संसार में इसका मूल्य उसके बदले में कुछ 'चाहने' के लिये लगाया जाता है। विचार तो ऐसा ही था, किंतु अब मैं अपना वह भोला स्नेह तुम्हारे लिये भेंट करता हूँ। क्या अपना 'बहनत्व' मुझे दोगी ? यह मैं नहीं जानता कि यह मैं क्यों करना चाहता हूँ, किंतु जानता इतना ही हूँ कि

इससे मेरे अशांत हृदय को संतोष और शांति-सी मिलती है। यह भी मेरा हृदय जानता है कि न-मालूम तुम्हें ही मैं क्यों इसका अधिकारी समझता हूँ। मैं इसे अधिकार पाने की दृष्टि से नहीं दे रहा। मैं तो इसे केवल 'भ्रातृत्व' पाने की दृष्टि से दे रहा हूँ। इसके बदले में मैं और कुछ तुमसे नहीं लेना चाहता। मैं तो दे ही रहा हूँ। तब क्या मेरा यह देना भी स्वीकार न होगा ? मैं तुम्हारे लिये बंधन नहीं चाहता, किंतु चाहता इतना-भर हूँ कि मैं तुम्हें अपने से उस सूत्र में बाँध लूँ, जिसमें मानव का वास्तविक सत्य छिपा है। मैं तो इसका अपने को बलिदान करने का मूल्य आँक रहा हूँ, न-मालूम तुम क्या आँकोगी ?

"देखिए, यह पहला पत्र है, जो इस वर्ष मैंने लिखा है। अभी तक किसी को पत्र नहीं लिखा। सँभालकर रखना, यह मेरे जीवन की आंतरिक व्यथा का प्रतिनिधि है।

"अंत में धन्यवाद !

आपका—

अभी तक निश्चित नहीं, कौन ?"

मैंने पत्र लिखा, और लिफ़ाफ़े में बंद कर झट पोस्ट ऑफ़िस के लेटरबॉक्स में डाल आया। कुछ शांति-सी अनुभव करने लगा। हृदय हलका-सा हो गया।

❀ ❀ ❀

प्रातः डाकिए ने लेटरबॉक्स से डॉक निकाली, तो

एक बड़े सुंदर लिफ़ाफ़े में रक्खा पत्र मिला। अजीब था वह—उसने कई बार उलट-फेरकर देखा, किंतु न कहीं पता लिखा था, और न भेजनेवाले का नाम। पोस्टमास्टर भी हैरान था कि कहाँ भेजें!

बहुत प्रयत्न करने पर भी वह पता आदि न पा सका। उसे वह सुंदर लगा था—वह फाड़ना भी नहीं चाहता था, आख़िर करे भी तो क्या? दिन-भर ऑफ़िस में कार्य करता रहा, और जब घर जाने का समय आया, तो उस पत्र को जेब में डालकर घर चला गया।

❀ ❀ ❀

यद्यपि वह पत्र को विना पते के डाल आया था, किंतु उसे क्या मालूम था कि वह ठीक स्थान पर पहुँच गया।

('सुदर्शन' में प्रकाशित)

बीस

बायाँ हाथ

जीवन में टेव एक बड़ी कठिन समस्या है? जिस मनुष्य को जो हो जाती है, वह फिर उसे बड़ी कठिनाई के साथ ही छोड़ सकता है। यह वास्तव में हमारे पुराने संस्कार— कुछ ढीली मनोवृत्ति के कारण हो जाती है। मेरा मतलब किसी मानसिक व्यसन या जिह्वा के स्वाद से नहीं, किंतु मेरा कहना तो किन्हीं प्रकार की कायिक अभिव्यक्तियों से है।

रामू को भी एक टेव थी। वह यह कि वह जब खाना खाता था, तो सदा बाएँ हाथ से। सबसे कठिन, किंतु हास्यमय समस्या तो यह थी कि यदि वह दाहने हाथ से खाना खाता भी, तो उसे ऐसा मालूम देता, मानो उसकी क्षुधा शांत नहीं हुई है।

वैसे रामू काफ़ी बड़ा, समझदार लड़का था। कॉलेज की ऊँची कक्षा में पढ़ता था। किंतु इससे क्या? वह इस बंधन से मुक्त थोड़े ही हो सकता था।

किंतु ......

उसका ऐसा करना घर तथा बाहर के सभी को अखरता

था। इसीलिये न, कि मानव ने अपने चारों ओर सीमाएँ निर्धारित कर ली हैं। उनसे अलग......कि उसकी आँखों में खटका। चाहे उसका उससे कुछ भी न बिगड़े, किंतु वह अपनी रूढ़ियों तथा पुरानी वृत्तियों का उल्लंघन नहीं सह सकता। भला, उसको अपने इस संकोच के बारे में कौन समझाए ? यदि एक आदमी बाएँ हाथ से खाना खाता है, तो वह क्या पाप करता है ? वह दाहने हाथ से ही क्यों खाए ? इसका उसके पास कोई तर्क नहीं। यदि कहेगा भी, तो इतना कि वह अशुद्ध है। भला, एक व्यक्ति उस अशुद्धता के कार्य को दाहने हाथ से करे, तो भी क्या बायाँ हाथ शुद्ध नहीं हो सकता ? इसको उसके मस्तिष्क से कौन हटाए ? यही तो कारण है उसके संकोच का, कि उसने अपने एक हाथ को इतना ऐक्टिव शक्तिशाली बना लिया, और दूसरे को ऐसा, जिससे वह लिख भी नहीं सकता। क्यों न उससे भी पूरा काम लिया जाय ? क्या यह हमारी शक्ति का व्यर्थ नष्ट होना नहीं ?

तो, रामू के साथ यह टेव अपना बड़ा पुराना इतिहास रखती है। इसी के कारण बचपन में न-जाने पिताजी से कितनी बार पिटना पड़ा—कितनी झिड़कियाँ सुननी पड़ीं। और तो और, बेचारा कितनी ही बारात, दावत आदि में जाने से रह गया ! जब कॉलेज में आया, तो सहपाठियों के मज़ाक़ का केंद्र बनना पड़ा। परंतु वह करे क्या, विवश था।

आज इतवार था। रामू होस्टल में ही कमरे में बैठा अखबार पढ़ रहा था। अचानक डाकिया पिताजी का एक पत्र लाया। खोलकर पढ़ा, तो उसमें दशहरे की छुट्टियों में घर अवश्य बुलाया था—ससुराल जाना था। बेचारा कुछ देर चुप रहा, क्योंकि दोस्तों ने मिलकर पहले ही बंद बारैठा का प्रोग्राम बना लिया था। खैर, किंतु एक बड़ा प्रश्न उपस्थित हुआ। अब उनसे कहे, तो क्या? यह तो वह कहना नहीं चाहता था कि मुझे ससुराल जाना है। अंत में बहाना बनाने का निश्चय कर लिया।

दोस्त लोग आए। उसने कहा—"घर बुलाया है, एक जरूरी काम है।"

'क्या...?"

वह 'क्या-क्या' से बहुत घबराता था। उत्तर भी दे, तो क्या? झूठ तो बोल नहीं सकता था। बहाना करने का साहस न हुआ। बेचारा चुप।

फिर पूछा गया।

'कुछ ऐसा ही " किंतु कॉलेज के सहपाठी इस कोरी 'कुछ ऐसा ही' से संतुष्ट होने के नहीं—पीछे पड़ गए।

अंत में पूछकर ही माने।

❀ ❀ ❀

घर आकर कपड़े-बिस्तर आदि सँभाले। सुबह की गाड़ी से ही ससुराल को रवाना हुआ, नई-नई उमंगों के साथ।

दूसरी बार ही तो जा रहा था। माताजी ने एक बात कह दी थी—वह यही कि वहाँ बाएँ हाथ से खाना न खाना। उसे बहुत ध्यान में रखने की आवश्यकता थी। किंतु अब तो एक विशेष प्रकार की तरंगें थीं...जो हो सकती हैं। किसी के यहाँ मेहमान बनकर जाने का प्रथम अवसर था, और था दो हृदयों का प्रथम मिलन। बहुत सावधानी की ज़रूरत थी।

स्टेशन से ताँगा करके ससुराल पहुँचा। कोठी के सामने कुरसी पर बैनू बैठा था। जीजाजी को आता देखकर चट से घर दौड़ गया। घर में सबको उनके आने की सूचना दे दी। सुषमा को भी यह सूचना मिली—एक नवीन जीवन और स्फूर्ति-सी।

"लालाजी आए हैं।" यह सबको विदित हो गया। इधर रहने आदि का प्रबंध हुआ, उधर अनेकों पकवान बनने आरंभ हो गए। भला, पहली बार आए मेहमान की ख़ातिर थी! इसमें भी कॉलेज में पढ़ते थे।

रात्रि के आठ बजे खाने के लिये बुलावा आया। रामू चला गया। दाहने हाथ की याद उसके मस्तिष्क में थी। खाना परोसा गया। रामू ने खाना आरंभ किया। दुर्भाग्य से बाएँ ही हाथ से खाना आरंभ कर दिया। उसे कुछ ध्यान न था, और ध्यान हो भी कैसे? कोई नई बात तो थी नहीं।

पास ही उसके श्वशुर बैठे थे। लालाजी को देखकर उनके मुख पर एक तरल हँसी आ रही थी, किंतु हँस कैसे सकते थे। रामू की निगाह उनकी ओर हुई, तो वह इसका भाव ताड़ गया। उसे दाहने हाथ का ध्यान हो आया। किंतु अब हो भी क्या सकता था ? एक लज्जा का-सा भाव उसके मुख पर खेलने लगा। उसने दाहने हाथ से खाना आरंभ किया, परंतु अब उसे खाना खाना मुश्किल हो गया।

वहाँ अधिक रहना उसे अब भारी-सा लगने लगा। उसने चाहा कि वह शीघ्र घर जाय, किंतु कहता कैसे ? रात्रि को इन्हीं विचारों में निमग्न सो गया।

दूसरे दिन उठा, एक मंद मुस्कान के साथ। उसके श्वशुर आए, उन्होंने कहा—"लालाजी, स्नान आदि से निवृत्त हो आओ।"

उन्हें देखकर न-मालूम उसकी हँसी क्यों सहम गई। खैर, शौच-स्नान आदि से निवृत्त हुआ। अब पुनः खाने का समय आया। उसने कहा—"कमरे में ही भेज दो।" उसके श्वशुरजी ने समझा कि लाला किसी बात से नाराज़ हो गए हैं। बहुत आग्रह किया, किंतु वह न माना। कमरे में ही मँगाकर खाना खाया। वही बाएँ हाथ से।

सुषमा से कहा गया कि तुम रामू से पूछो कि क्या बात है। वह अपने पति की नासमझी पर स्वयं नाराज़ थी। बाएँ हाथ से खाना खाकर सहेलियों में उसे हँसी का पात्र बना

दिया था, किंतु बेचारी करे क्या ? वह शिक्षित युवती थी। पर्दा, रिवाज के फंदे से बाहर। वैसे तो रामू के ससुरालवाले सब शिक्षित थे। रामू को घर बुलाया गया। सुषमा के कमरे में वह गया, बेचारा कुछ भूला-सा।

एक भोली मुस्किराहट के साथ सुषमा ने कहा—"क्या आप नाराज़ हैं, जो इतनी जल्दी जाने को कह रहे हैं ?"

किंतु वह बेचारा अपना दुःख कहे भी कैसे ?

कहा—"नहीं तो, ऐसे ही एक काम है।"

"तो तीन दिन से पहले कैसे जा सकते हो ?"

"नहीं सुषमा, मैं जाऊँगा ही - बहुत हर्ज होगा।"

"ठहरो न।"

"नहीं।"

वह कुछ क्रुद्ध-सी होकर बोली—"जैसी आपकी मर्ज़ी। एक तो कल ही हँसी कराई, अब और आफ़त आवेगी। कुशकुन होते भला मैं घर से कैसे चलूँ ?"

"ख़ैर, तुम पीछे आ जाना।" यह कहकर वह कमरे से बाहर हो गया, किंतु कल की हँसीवाली बात उसे रह-रहकर पीड़ा देने लगी।

दूसरे दिन वह घर चला आया। बाद में कई बार उससे सुषमा को लिवा लाने को कहा गया, किंतु वह न गया—छोटे भाई को लेने भेज दिया।

पर उस बाएँ हाथ ने रामू और सुषमा के बीच में अपनी छोटी-सी लंबाई से भी अधिक अंतर कर दिया। दोनो का स्वप्न-संसार ज्यों-का-त्यों रहा, न-मालूम कब तक।

जीवन-रेखाएँ

मूल्य १।)　　　　　　　　　　　　　　　　सजिल्द २)

(श्रीनरेंद्रजी की यह दूसरी रचना है)

श्रीनरेंद्रजी के लेख और गीत आरंभ से ही हिंदी में एक नवीन शैली एवं अनूठी भाव-व्यंजना करते आए हैं। 'जीवन-रेखाएँ' भी इसी ढंग की हैं। गीतों की भाषा बड़ी काव्यमय और भाव-पूर्ण है। प्रत्येक गीत बोधगम्य एवं हृदय-स्पर्शी है। कल्पना और भाव-प्रवाह, सभी ऊँची श्रेणी का है। काव्य-प्रेमियों को इसकी एक प्रति अवश्य मँगानी चाहिए। थोड़ी ही प्रतियाँ रह गई हैं।

पता—

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, ३६, लाटूश रोड, लखनऊ